स्थानकवासी-

जैन इतिहास.

[illegible]—

एस. के. भंडारी,

[illegible]—

[illegible] बम्बई, इन्दौर.



अन्वेषक—श्री० केसरीचन्दजी भंडारी

जन्म-
ता० २७-८-१८७१

मृत्यु-
ता० २७-२-१९२५



प्रस्तावना

इधर सर्व-साधारण में जैन धर्म के सम्बन्ध में और विशेष करके श्वेताम्बर साधुमार्गी स्थानकवासी जैनियों के सम्बन्ध में गलत फहमी और मिथ्या विचार फैले हुए मालूम पड़ते हैं। मैंने इस पुस्तक में जैन धर्म की तीन मुख्य शाखाओं के इतिहास पर हर तरह का पूरा प्रकाश डालने की चेष्टा की है। दिगम्बर जैन कहलाने वाले शास्त्रों द्वारा मैंने यह सिद्ध किया है कि स्थानकवासी जैन ही शुद्ध और मूल जैन धर्म के सच्चे और मौलिक अनुयायी हैं। और दिगम्बर और श्वेताम्बर मूर्ति पूजक जैन, मौलिक जैन धर्म की बिगड़ी शाखायें हैं।

इस पुस्तक में बिलकुल निष्पक्ष भाव से मैंने इस विषय की चर्चा की है, फिर भी संभव है कि ऐसा करते हुए अनजान में कुछ ऐसी बातें कही गई हों, जो दूसरे सम्प्रदाय की भावना को दुखाने वाली हों, यदि ऐसा हुआ है तो वह बिलकुल बिना जाने हुआ है—क्यों कि विषय निष्पक्ष से रखना



अन्वेषक—श्री० केसरीचन्दजी भंडारी.

जन्म- ता० २७-८-१८७१

मृत्यु- ता० २७-२-१९२५

उल्लेख अनिवार्य था। अतएव यह आवश्यक है कि पाठकगण उन बातों को उसी भाव में ग्रहण करें जिनसे प्रेरित होकर वे लिखी गई हैं।

इस पुस्तक में मैंने संतोषजनक प्रमाणों द्वारा यह भी सिद्ध किया है कि जैन धर्म बहुत ही प्राचीन धर्म है, और तथाकथित प्राचीनतम वैदिक धर्म से भी पुराना है। बहुतेरे सज्जन मेरे इस चौंकाने वाले कथन को बडी हिचकिचाहट के साथ स्वीकार करेंगे, क्यों कि अब तक इस संबध में वे कुछ और ही मानते आये हैं, फिर भी अपनी इस स्थापना के समर्थन में मैंने जो प्रमाण उपस्थित किये हैं, वे इतने अधिक और जोरदार हैं कि वे अपने आप ही पाठकों को मेरे इस कथन को बुद्धि पूर्वक मान लेने के लिये विवश कर देंगे।

इस पुस्तक को निष्पक्ष भाव से पढने पर यदि पाठकों के दिल से आम तौर पर जैन धर्म और विशेषकर स्थानकवासियों के सम्बन्ध के समस्त मिथ्या विचार दूर हो सकें तो मैं अपने को कृतकृत्य समझूँगा।

मेरे विद्वान् और माननीय मित्र श्री के, वी. विठवई, बी. ए ने इस पुस्तक में जैसी दिलचस्पी ली है और मुझे जिस प्रकार प्रोत्साहित किया है, उसके लिए मैं उनका जितना ऋणी होऊ, उतना कम है। पुस्तक की हस्त लिपि को पढ कर उन्होंने कई उपयोगी सूचनायें दी हैं, हस्तलिपि में

हो सकता है वैसे ही उनको साहित्य सम्बन्धी कितनी निर्मल व उच्च रूचि थी इसका साक्षी स्वयं उनके द्वारा प्रकाशित पंचभाषिक " सचित्र अर्ध-मागधी कोष " व " Services of Jainism to India ' नामके ग्रथ हैं।

यह मैं कह चुका हू कि यह पुस्तक उनकी उपरोक्त अंग्रजी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद मात्र है। संभव है कि मुद्रणमें व भाषाशैली के अनुसार अनुवाद मे कहीं दोष रह गया हो। आशा है कि सूज्ञ पाठक इस के लिये मुझे क्षमा करेंगे व त्रुटियों की सूचनाओं भेजकर व वादग्रस्त विषयों पर अपने सप्रमाण विचार भेजकर आभारी करेंगे जिससे द्वितीयावृत्ति के प्रकाशन में सशोधन हो सके।

एस के. भंडारी.



मूल्य १२ आने

इन वीरों ने शिकार, बलिदान अथवा अन्य किसी भी कार्य के लिये किसी जीवधारी की जान लेने का कड़ा प्रतिरोध करके बिचारे गूंगे जीवनधारी पशुओं की रक्षा की और सर्वत्र सुख-शान्ति व समृद्धी प्रस्थापित कर दी।

आत्म-त्याग, उदारता, सत्य-प्रेम और ऐसे ही अनेक सद्‌गुणों के लिए, जो कि मनुष्य को वास्तव में श्रेष्ठ बना देते हैं, क्षत्रिय लोग अति प्राचीन काल से प्रसिद्ध चले आते हैं। युद्ध के सकटमय समय में भी उन्होंने सच्चरित्रता, धीरता, आत्म-निरोध और कर्तव्य परायणता के ऐसे प्रमाण दिये हैं कि जिससे उनकी सतान उनके शुभ नामों का स्मरण बड़े ही सन्मान और आदर के साथ करती है।

इन्हीं नर-रत्नों ने जिनमें असली श्रेष्ठता और महानता ठूस ठूस कर भरी थी, जैन तीर्थंकरों जैसी पवित्र आत्माओं को जन्म दिया। इन तीर्थंकरों ने असख्य जीवों की जानें बचाई और एक ऐसे महान् धर्म का प्रचार किया कि जिसका यशोगान बेजबान जानवर भी अपनी मौन भाषा में निरतर गाते रहते हैं।

जैन धर्म के विषय में भ्रम

जिस धर्म का प्रचार ऐसे कर्मवीर योगियों ने किया है, जिस धर्म में परमोत्तम सिद्धान्त भरे पड़े हैं, जिस धर्म ने

अपमान को सहा और इन विद्वानों की भूलों को सुधारने का कभी प्रयत्न ही न किया।

लेथब्रिज, एलफिंस्टन, वेबर, वार्थ आदि विद्वानों ने जैन धर्म की उत्पत्ति बौद्ध धर्म से मानी है। इससे यही व्यक्त होता है कि उनको जैन, हिन्दू और बौद्ध शास्त्रों का ज्ञान बिलकुल न था। इसी प्रकार जो विद्वान् जैन धर्म को विशेष प्राचीन हिन्दू धर्म की शाखा मानते हैं वे भी हिन्दू और जैन शास्त्रों सम्बन्धी अपनी अज्ञानता बतलाते हैं।

इस भ्रम के कारण.

आर्य भाषाओं का ज्ञान रखने वाले कुछ विद्वानों ने जैन धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा केवल इसलिए मान लिया कि इन दोनों धर्मों के कुछ सिद्धान्त आपस में मिलते हैं परन्तु अब बौद्ध शास्त्रों में ही ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनने इन विद्वानों के बेबुनियाद मत को असत्य सिद्ध कर दिया है। इसी प्रकार सिद्धान्तों की एकता ही के कारण कुछ विद्वानों ने जैन धर्म को हिन्दू धर्म की शाखा मानी है।

इन सब विद्वानों ने इस विषय में निःसंदेह बड़ी भारी भूल की है। उन्होंने न तो अपने भ्रमपूर्ण विचारों के समर्थन के लिए कभी कोई संतोषजनक प्रमाण दिये और न यह बतलाया कि हिन्दू धर्म अथवा बौद्ध धर्म से जैन धर्म की

अपमान को सहा और इन विद्वानों की भूलों को सुधारने का कभी प्रयत्न ही न किया।

लेथब्रिज, एलफिस्टन, वेबर, वार्थ आदि विद्वानों ने जैन धर्म की उत्पत्ति बौद्ध धर्म से मानी है। इससे यही व्यक्त होता है कि उनको जैन, हिन्दू और बौद्ध शास्त्रों का ज्ञान बिलकुल न था। इसी प्रकार जो विद्वान् जैन धर्म को विशेष प्राचीन हिन्दू धर्म की शाखा मानते हैं वे भी हिन्दू और जैन शास्त्रों सम्बन्धी अपनी अज्ञानता बतलाते हैं।

इस भ्रम के कारण.

आर्य भाषाओं का ज्ञान रखने वाले कुछ विद्वानों ने जैन धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा केवल इसलिए मान लिया कि इन दोनों धर्मों के कुछ सिद्धान्त आपस में मिलते हैं परन्तु अब बौद्ध शास्त्रों में ही ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनने इन विद्वानों के बेबुनियाद मत को असत्य सिद्ध कर दिया है। इसी प्रकार सिद्धान्तों की एकता ही के कारण कुछ विद्वानों ने जैन धर्म को हिन्दू धर्म की शाखा मानी है।

इन सब विद्वानों ने इस विषय में निःसंदेह बडी भारी भूल की है। उन्होंने न तो अपने भ्रमपूर्ण विचारों के समर्थन के लिए कभी कोई संतोषजनक प्रमाण दिये और न यह बतलाया कि हिन्दू धर्म अथवा बौद्ध धर्म से जैन धर्म की

जैन धर्म की उत्पत्ति शंकराचार्य के बाद नहीं हुई।

हम नीचे चलकर कई प्रमाण इस बात के देते हैं कि जैन धर्म की उत्पत्ति शंकराचार्य के बाद नहीं हुई।

(१) माधव और आनन्दगिरी ने अपने शकरदिग्विजय नामक ग्रथ मे और सदानद ने अपने शंकरविजयसार नामक ग्रंथ में लिखा है कि शंकराचार्य ने कई स्थानों पर जैन पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ किया था।

यदि जैन धर्म की उत्पत्ति शंकराचार्य के पीछे हुई होती तो, यह बात कदापि सभव न होती।

(२) शकराचार्य ने स्वयं स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि जैन धर्म बहुत प्राचीन धर्म है, क्योंकि उन्होंने वेदव्यास के वेदान्त सूत्रों पर जो भाष्य रचा है उसके द्वितीय अध्याय के द्वितीय पद के ३३ से ३६ तक के सूत्र जैन धर्म के विषय में है।

इन अकाट्य प्रमाणों के रहते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि जैन धर्म की उत्पत्ति शकराचार्य के समय में अथवा उसके बाद हुई।

जैन धर्म बौद्ध धर्म की शाखा नहीं है।

धर्म, बौद्ध धर्म की शाखा नहीं है,
है। बौद्धों के धर्मशास्त्रों में जैनों का

का प्रतिपादन किया, किन्तु ये चार महाव्रत महावीर से २५० वर्ष पूर्व पार्श्वनाथ के समय में माने जाते थे। यह भूल बड़ेही महत्व की है क्योंकि उससे जैनों के उत्तराध्ययन सूत्र के तेईमवें अध्याय की यह बात सत्य सिद्ध होजाती है कि तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनुयायी महावीर के समय में मोजूद थे।

(६) बौद्धों ने अपने सूत्रों में कई स्थानों पर जैनों को अपना प्रतिस्पर्धी माना है, किन्तु कहीं भी जैन धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा, अथवा नव सस्थापित धर्म नहीं लिखा।

(७) मक्खलीपुत्र गोशाला महावीर का शिष्य था, परन्तु बाद में वह पाखण्डी–धर्मद्रोही हो गया। इसी गोशाला और उसके सिद्धान्तों का बौद्ध धर्म के सूत्रों में कई स्थानों पर उल्लेख पाया जाता है।

(८) बौद्धों ने महावीर के शिष्य सुधर्माचार्य के गोत्र का और महावीर के निर्वाण स्थान का भी उल्लेख किया है।

प्रोफेसर जेकोबी ने जैन धर्म की प्राचीनता के जो प्रमाण दिये हैं उनमें से केवल थोड़ेसे प्रमाणों का ही उल्लेख ऊपर किया गया है। इनसे निस्सन्देह सिद्ध होजाता है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म की शाखा नहीं है, किन्तु उससे प्राचीन है।

अब हम यह दिखलायेंगे कि हिन्दुओं के शास्त्र उपरोक्त कथन का कहा तक समर्थन करते हैं। हिन्दू शास्त्रों में जैन

धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा होना कहीं नहीं बतलाया। इन शास्त्रों में सब कहीं इन दोनों धर्मों को पृथक २ और एक दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र बतलाया गया है। इस बात के अनेक उदाहरण इन शास्त्रों में से दिये जासकते हैं, परन्तु यह स्पष्ट है कि ये उदाहरण उतने महत्वपूर्ण नहीं है जितने कि बौद्ध शास्त्रों के उदाहरण, जो हम ऊपर देचुके हैं। इसलिये अब हम हिन्दू शास्त्रों के उदाहरणों का उल्लेख यहां नहीं करते।

यदि अब हम जैन शास्त्रों की ओर दृष्टि डालें और यह मालूम करें कि उनमें बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के विषय में क्या लिखा है, तो कुछ अप्रासंगिक न होगा।

बौद्ध धर्म का संस्थापक एक जैन साधु था।

दर्शनसार में, जिसे देवनंदु आचार्य ने विक्रम संवत् ९९० (ईसवी सन् ९३३) में उज्जैन (मालवा) में रचा था, लिखा है कि पिहिताश्रव नामक जैन साधु के एक विद्वान् शिष्य ने जिसका नाम बुद्धकीर्ति था, बौद्ध धर्म की स्थापना की थी। जिस समय बुद्धकीर्ति पलाश नगर में सरयू नदी के किनारे पर तपस्या कर रहा था उस समय उसने एक मरी हुई मछली को पानी पर तैरते हुए देखा। उसने अपने मन में विचार किया कि इस मछली के खाने में हिंसा नहीं लग सकती, क्यों कि यह तो जीव रहित है। उसने तत्काल ही

तपस्या को छोड दी और आगे, अपने आप में और जैन साधुओं में भेद करने के हेतु उसने गेरूआ-भगवें वस्त्र धारण कर लिए और एक नये धर्म का प्रचार किया जो उसके नाम पर बौद्ध धर्म कहलाया। एक जैन पट्टावली के अनुसार पिहिताश्रव, जो पार्श्वनाथ के तीर्थ का अनुयायी था, महावीर के समय में विद्यमान था। बुद्धकिर्ति पिहिताश्रव का शिष्य था, इस लिए वह महावीर का समकालीन रहा होगा। इस से यह पता लगता है कि बौद्ध धर्म का मूल सस्थापक एक जैन साधु था। इस बात को पुष्ट करने वाले अन्य प्रमाण नहीं मिलते, इस लिए सभव है कि कुछ विद्वान् इस कथा की सत्यता पर सन्देह करें, परन्तु इस से हमारे ऊपर के परिणाम को कुछ भी बाधा नहीं आती।

जैन धर्म हिन्दू धर्म से प्राचीन है।

कुछ विद्वानों का मत है कि जैनधर्म हिन्दूधर्म की शाखा है और उसके आदि प्रवर्तक पार्श्वनाथ (८७७–७७७ ईसा से पूर्व) हैं। यह कल्पना भी वैसी ही निर्मूल है। सिद्धान्तों की समानता के कारण जिस प्रकार लैसेन, बार्थ, वेबर इत्यादी विद्वानोंने जैन धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा मान लिया था उसी प्रकार भूलर और जेकोबी की भी मान्यता है कि जैन धर्म हिन्दू धर्म की शाखा है; किन्तु केवल सिद्धान्तों

की समानता उनके मतको सिद्ध नहीं कर सकती, क्यों कि जैन धर्म के तत्व हिन्दू धर्म के तत्वों से कई आवश्यक बातों में भिन्न हैं। उन्होंने भूल से जैन और हिन्दू सिद्धान्तों को समान मान लिया है, इसलिए मालूम होता है कि उन्होंने इन दोनों धर्मों का अध्ययन सरसरी तोर पर किया है व उनका केवल ऊपरी ज्ञान प्राप्त किया है। असली बात तो यह है कि जैन धर्म हिन्दू धर्म से भी बहुत प्राचीन है। इस बात के हम कई प्रमाण देते हैं।

जैन धर्म का अस्तित्व रामचन्द्रजी के समय में था।

१ हिन्दु पुराणों में योगवासिष्ठ और हिन्दूओं के बहुत से अन्य ग्रथों में जैन धर्म का उल्लेख कई स्थानों पर पाया जाता है।

महाभारत के आदि पर्व के तृतीय अध्याय में २३ और २६ वें श्लोक में एक जैन मुनि का हवाला दिया है। शान्ति पर्व (मोक्षधर्म अध्याय २३९ श्लोक ६) में जैनो के सुप्रसिद्ध सप्तभगी नय का वर्णन है।

रामायण में भी जैन मुनियों का उल्लेख पाया जाता है। कहा जाता है कि महाभारत ईसा से ३००० वर्ष पहले हुवा था और रामचन्द्रजी महाभारत से १००० वर्ष पहले विद्यमान थे। इसलिए यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म,

यदि अधिक प्राचीन न हो तो कम से कम रामचन्द्रजी के समय से पूर्व का अवश्य है।

जैन धर्म पाणिनी से बहुत पहले का है।

२ सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी ने अपनी अष्टाध्यायी में शाक्टायन का कई स्थानों पर हवाला दिया है। शाक्टायन एक जैन वैयाकरण थे जो पाणिनी के पहले हो चुके हैं। शाक्टायन का नाम ऋग्वेद के प्रति-शाख्यों में, यजुर्वेद में और यास्क के निरुक्त में आया है। कुछ विद्वानों का मत है कि पाणिनी ईसा से ८०० वर्ष पहले विद्यमान थे और कुछ विद्वान्, पाणिनी का समय ईसा से २००० वर्ष पहले मानते हैं। यास्क पाणिनी से कई शताब्दि पहले विद्यमान थे। रामचन्द्र घोपने अपने " Peep into the Vedic Age " नामक ग्रंथ में लिखा है कि यास्क कृत निरुक्त को हम बहुत ही प्राचीन समझते हैं। यह ग्रंथ वेदों को छोडकर संस्कृत के सब से प्राचीन साहित्य से सबंध रखता है।

इस बात से यही सिद्ध होता है कि जैन धर्म का अस्तित्व यास्क के समय से भी बहुत पहले था।

३ कई ब्राह्मणों में भी जैन धर्म का उल्लेख पाया जाता है। उदाहरणार्थ एतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि कुछ यतियों को गीदड़ों के आगे फेक दिया गया था और इस प्रकार उनके साथ में कुत्सित व्यवहार किया गया था।

४ डॉक्टर राजेंद्रलाल मित्र ने योग सूत्रों की भूमिका में लिखा है कि सामवेद में एक ऐसे यति का वर्णन है कि जो वलिदान को निंद्य समझता था।

" ॐ पवित्र नग्नमुपवि [ई] प्रसामहे येषा नग्न [नग्नये] जातिर्येषा वीरा ॥"

६ इसके सिवाय इसी वेद में जैनों के प्रथम और बाइसवे तीर्थंकर ऋषभदेव और अरिष्टनेमि का नाम आया है।

(क) "ॐ **नमोऽर्हन्तो ऋषभो** ॐ ऋषभ पवित्रं पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्न परम माहस स्तुत वारं शत्रुंजय त पशुरिंद्रमाहुरिति स्वाहा ॥" अध्याय २५, मंत्र १९।

(ख) ॐ **रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा**। वामदेव शान्त्यर्थमुपविधीयते सोऽस्माक **अरिष्टनेमि** स्वाहा ॥ "

७ ऋग्वेद सबसे प्राचीन वेद है। इसके अष्टक १, अध्याय ६, वर्ग १६ में २२ वे तीर्थंकर अरिष्टनेमि का नाम आया है।

" ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्तिन. पूषा विश्ववेदा स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो **अरिष्टनेमिः** स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।"

८ वेदव्यास के अध्याय २, पद २, सूत्र ३३ मे ३६ में जैनों के स्याद्वाद न्याय का उल्लेख पाया जाता है। इसमें

प्रख्यात सप्तभंगी नय पर, जो कि जैन धर्म की विशेपता है, आक्षेप किये । है । वे सूत्र इस प्रकार हैं:—

(३३) **नैकस्मिन्नसंभवात्**—"एक ही वस्तु में एक ही समय परस्पर विरोध गुण होना असम्भव है इसलिये यह सिद्धान्त नहीं माना जा सकता" यहा पर स्यात् आस्ति और स्यात् नास्ति इत्यादि जैन सिद्धान्त के ऊपर आक्षेप किया गया है ।

(३४) **एवंचऽऽत्माकात्र्स्न्यम्**—" और इसी प्रकार (जैन तत्व के अनुसार यह सिद्धान्त निकलेगा कि) आत्मा (जिन शरीरों में) रहती है (उनके लिये) वह उसी प्रमाण से बड़ी या छोटी है ।

(३५) **न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः** " यदि हम यह मानलें कि आकार बारबार बदलता रहता है, तो भी परस्पर विरोध (होने की कठिनाई) दूर नहीं हो सकती " इसलिये यह मानना होगा, कि आत्मा में आवश्यकतानुसार फेरफार होता रहता है ।

(१६) अन्त्यावस्थिते श्चोभय नित्यत्वाद विशेषः—मान लिया जाय कि अंतिम आकार स्थायी होता है, (तो भी यह सिद्धांत स्वीकृत नहीं होसकता, क्योंकि फिर उसी तर्क के अनुसार (आत्मा और शरीर) दोनों को स्थायी मानना पडेगा।

यहा पर यह याद रखना चाहिये कि उपरोक्त सूत्रों में जैनों के स्याद्वाद सिद्धान्त को विकृतरूप दिया गया है। ब्रह्मसूत्रों के टीकाकार शंकराचार्य इत्यादि ने उपरोक्त सिद्धान्त की आलोचना और उपहास करने में वडा अन्याय किया है। क्यों कि उन्होंने उस सिद्धात के आशय को तोडमोड कर बदल दिया है।

हमने जो दलीलें ऊपर दी हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यदि वैदिक काल में जैन धर्म का प्रचार न होता तो हमको ये उसके प्रमाण न मिलते। जैनों का स्याद्वाद् न्याय, जो एक बहुत कठिन सिद्धान्त है, वेद व्यास के समय तक सर्वांगपूर्ण हो चुका होगा क्योंकि तभी तो वेदव्यास जैसे उद्भट विद्वान् का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ और इस सम्पूर्णता को प्राप्त करने में इससे पहले निःसन्देह कई शताब्दियां लग गई होंगी।

अतएव यह निश्चित है कि स्याद्वाद न्याय, जो जैन धर्म का एक प्रधान अंग है, ब्रह्मसूत्रों के समय के पहिले मौजूद

था। इस बात से और उन प्रमाणों से, जो कि जैन धर्म के विषय में वेदों में मिलते हैं, यह निश्चय पूर्वक सिद्ध हो जाता है कि वेद जो कि अति प्राचीन होने का दावा रखते हैं इन से भी जैन धर्म बहुत पहिले ही उन्नत अवस्था में था। अतएव इस बात की बहुत अधिक सभावना है कि वेदोंने स्वय जैन धर्म से कुछ बातें ग्रहण की हों।

जैन धर्म संसार का सब से प्राचीन धर्म है।

जैन धर्म ससार का सब से प्राचीन धर्म है, इस बात पर कई विद्वानों का विश्वास दिन प्रतिदिन दृढ होता जा रहा है। काशी निवासी स्वर्गीय स्वामी राममिश्र शास्त्री ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि जैन धर्म उतना ही प्राचीन है जितना कि यह संसार है। हम आगे चल कर यह दिखाते हैं कि उक्त पंडितजी के मत का समर्थन जैन और हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों किस प्रकार से होता है।

भगवान् ऋषभदेव मानव जाति के आदि गुरु थे।

जैन शास्त्रों के अनुसार भगवान् ऋषभदेव स्वामी मानव जाति के प्रथम (जैन) धर्म गुरु थे और इस बात की पुष्टि ब्राह्मणों के कई ग्रन्थों से होती है। भागवत पुराण के स्कंध ५ अध्याय ३-६ में यह लिखा है कि सृष्टि के आदि में ब्रह्माने स्वयम्भू मनु और सत्यरूपा को उत्पन्न किया। ऋषभ

इन से पाचवीं पीढी में हुए, इन्हीं ऋषभदेव स्वामी ने जैन धर्म का प्रचार किया। वाचस्पत्य में ऋषभ को जिन देव बतलाया है और शब्दार्थ चिन्तामणी में उनको आदि जिनदेव कहा है।

यदि हम इससे यह अनुमान निकालें कि प्रथम जैन तीर्थंकर और जैन के संस्थापक ऋषभदेव, जिनको भागवत पुराण में स्वयंभू मनु से पाचवीं पीढी में बताया है, मानव जाति के आदि गुरु थे तो हमारा विश्वास है कि इस कथन में कुछ अत्युक्ति न होगी।

जैन धर्म अनादि है।

किन्तु इस से यह न समझना चाहिये कि जैन धर्म का प्रचार ऋषभदेव के समय से ही हुआ है और उस से पहिले जैन धर्म का अस्तित्व ही न था क्योंकि जैन यह मानते हैं कि युगों का क्रम जिनको अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कहते हैं, अनादि काल से चला आता है वह अनत काल तक रहेगा और प्रत्येक युग मे चौवीस तीर्थंकर जन्म लेते रहते हैं और जैन सिन्द्धान्तों का प्रचार करते हैं।

अब हम को इस मान्यता पर कि वैदिक धर्म प्राचीन भारत का सब से पहिला धर्म है विचार करना चाहिये। सर्व साधारण को यह विश्वास है कि वैदिक धर्म सब धर्मों से

प्राचीन है परन्तु यह उनका भ्रम है। स्वयं वेदों में ही इसका संतोषजनक प्रमाण मिलता है कि वैदिक धर्म के पहिले और उसके साथ साथ, अन्य धर्मों का भी प्रचार था। यदि ऐसा न होता तो हमको वैदिक काल में ऐसे मनुष्यों के उल्लेख न मिलते कि जिनके सिद्धान्त वैदिक धर्म से विरुद्ध थे। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

(१) "अग्नि षोमियं पशु हिंस्यात्" अर्थात् ऐसे पशुओं की हिंसा न करनी चाहिये जिनके देव अग्नि और सोम हैं।

(२) "मा हन्यादु सर्व भूतानि" अर्थात् किसी जीवधारी की जान न लेनी चाहिये।

(३) ऋग्वेद के मंडल १, अष्टक २, वर्ग १०, अध्याय ५, सूक्त २३, ऋचा ८ में ऐसे मनुष्यों का वर्णन आया है कि जो सोमरस का निषेध करते थे।

(४) ऋग्वेद के मंडल ८, अध्याय १०, सूक्त ८९, ऋचा ३, मे भार्गव ऋषिने कहा है कि इन्द्र कोई वस्तुही नहीं है। चोथी ऋचा में इन्द्र ने अपने अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा की है और यह कहा है कि वो अपने शत्रुओं का नाश कर देता है।

(५) ऋग्वेद के अष्टक ३, अध्याय ३, वर्ग २१, ऋचा १४ में ऐसे मनुष्यों का उल्लेख है जो किक्त अथवा मगध में रहते थे और यज्ञ दानादि की निन्दा करते थे।

हम अपने मत का समर्थन करने के लिये वेदों में से और भी अनेक उदाहरण दे सकते हैं। इन सबसे क्या सिद्ध होता है ? इनसे निर्विवाद सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में, वैदिक धर्म का सबसे प्राचीन धर्म होने का दावा स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वेदोंमें से जो प्रमाण ऊपर दिये गये हैं वेही इस बातको सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि जैनधर्म अतीव प्राचीन काल से चला आता है और जिस वैदिक धर्म को प्राचीन बतलाया जाता है उससे भी पहिले जैन धर्म अस्तित्व रखता था।

जैन धर्म का अन्य धर्मों के साथ मुकाबला।

यदि हम जैन धर्म के पूर्व इतिहास की तरफ देखते हैं तो मालूम होता है कि अन्य धर्मों की वैमनस्यता के कारण जैन धर्म को बडा साम्हना करना पडा था। कारण जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म था जो बडे साहस के साथ प्रत्येक जीव की हिंसा का प्रवल निषेध करता था। शेष सभी धर्म किसी न किसी रूप में हिंसा का विधान करते थे। इसके अतिरिक्त जैन धर्म अहिंसा के उत्कृष्ट और कल्याणकारी सिद्धान्त का उद्घोष करके ही न रहा, किन्तु उसने इससे भी बढकर यह किया कि इस सिद्धान्त को बडी सावधानी के साथ कार्य रूप में परिणत किया। वैदिक धर्म ने, जो ईश्वरीय ज्ञान होने का दावा करता है,

मूक जीवों के साथ कहीं २ बडी निर्दयता का बर्ताव किया है। इतनाहीं नहीं किन्तु उसने बलिदान के लिये सर्वश्रेष्ठ जीवधारी मनुष्य की हत्या को भी विधेय बतलाया है। एक समय गौ को भी जिसे ब्राह्मण अत्यत पवित्र समझते हैं प्राचीन ऋषि बडी निष्ठुरता के साथ बलिदान के लिये मार डालते थे और बलिदान किये हुए मास को जिसे वे पुरोडाश कहते थे, खा भी लेते थे। चूकि वेद ऐसी अमानुषिक कार्रवाइयों का विधान करते थे। यही कारण है कि जैन इन वेदों को हिंसक श्रुतियों के नामसे पुकारते थे।

हिन्दू धर्म-शास्त्र, ऐसे सिद्धान्तों से भरे पडे हैं जो अपने अनुयायियों को कल्पित देव और देवियों को प्रसन्न करने के लिये निरपराधी जीवों का खून बहाने की आज्ञा देते हैं।

उन्हीं सिद्धान्तो के कारण असख्य जीवों का बलिदान हुआ है। यदि वे जीव न मारे जाते तो वे मनुष्य के लिये कई तरह से उपयोगी होकर उसके सुख और समृद्धि की वृद्धि करते। आज हम देखते हैं कि अमुक बकरी, अमुक भेड और अमुक भैंस आनन्द पूर्वक चर रही है परन्तु दूसरे ही दिन यह दिखाई देता है कि संसार मे उनका अस्तित्व ही नहीं है। परन्तु जैन धर्म ने इन भयकर बलिदानों का बडी जोर के साथ निषेध किया, वेदों के कठोर रिवाजों की जड पर

कुठाराघात किया, धर्म प्रचारकों की स्वार्थपरता को प्रकट किया, बिना जाति और धर्म भेद के अपने द्वार समस्त प्राणियों के लिये खोल दिये और सार्वभौमिक दयाभाव और भ्रातृभाव के सिद्धान्तों को, कि जो जैन धर्म की विशेषताए हैं, दूर दूर तक फैला दिया। साराश यह है कि जैन धर्म ने किसी भी जीवधारी को अपनी पवित्र छत्रछाया के बाहर नहीं किया।

जैन धर्म के विषय में झूठी बात फैलाने के कार्य।

इस प्रकार के हिन्दू धर्म पर स्मरणीय आक्रमणों के कारण जैन धर्म ने अपने लिये अनेक शत्रु उत्पन्न कर लिये और उसके परिणाम मे उसे बहुत कुछ क्षति उठानी पडी। उन्होंने जैन धर्म की निन्दा करने का और उसके विषय मे भयकर भ्रामक विचारों को फैलाने का कोई अवसर मात्र हाथ से न जाने दिया। उन्होंने जैन सिद्धांतों की बडी खींचातानी की है और उसके विषय में सब प्रकार से विरोधीभाव पैदा करने में कोई कसर नहीं रक्खी।

ईर्षा और द्वेष के कारण कुछ लोगों ने तो यहा तक कह डाला है कि "हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैन मदिरम्" अर्थात् मदमत्त हाथी के आक्रमण करने पर भी किसीको अपनी रक्षा के लिये जैन मदिर मे प्रवेश न करना चाहिये।

सस्कृत नाटकों के पढने मे मालूम होता है कि उनमें कई स्थानों पर जैन यतियों को नीचे दर्जे के सेवकों की तथा

चोरों की पात्रता दी गई है और इसी प्रकार समस्त हिन्दू साहित्य में उनको नीची श्रेणी में रक्खा है और घृणा की दृष्टि से देखा गया है। इन बातों से इस बात का यथेष्ट ज्ञान हो जाता है कि संस्कृत के ब्राह्मण विद्वानों ने इन्हीं जैनों के साथ, कि जिन्होंने दर्शन शास्त्र, नीति शास्त्र, न्याय शास्त्र, अध्यात्म विद्या, विश्व विवरण विद्या, गणित और फलित, ज्योतिष, व्याकरण, कोष, अलकार और अन्य भिन्न भिन्न विषयों पर बड़े बड़े पाडित्य पूर्ण ग्रन्थ लिखकर सस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि की है, कैसा कुत्सित व्यवहार किया है।

महावीर के निर्वाण के पीछे कई शताब्दियों तक जम्बू स्वामी, प्रभव स्वामी, यशोभद्र, सभूतिविजय, भद्रबाहु, स्थूलिभद्र इत्यादि प्रखर प्रतिभाशाली बड़े धर्मात्मा विद्वान् तात्कालीन साहित्य मंडल में बड़े आदर के साथ चमकते थे और अपने प्रतिद्वन्दियों के हृदय में विस्मय उत्पन्न करते रहे। उनके आगे राजा महाराजा सिर झुकाते थे, उनके शातिमय प्रभाव के सामने अत्याचार नष्ट हो जाता था, उनके मुख की दिव्य प्रभा मे प्रतिस्पर्धियों का घमड चूर चूर हो जाता था, और उनकी उपस्थिति में कुछ ऐसा तेज था कि उनके सामने विधर्मियों का सिर नीचा हो जाता था। इन महान् विद्वानों के बाद मानतुगाचार्य, हरिभद्रसूरि, शातिसूरि, हेमचन्द्राचार्य, मेरुतुंगाचार्य, और बहुत से अन्य विद्वन् हुए, जिन्होंने

मूर्तिपूजा का विधान करके और कल्पित धार्मिक सिद्धातों का प्रचार करके जैन धर्म को यद्यपि एक नया और विचित्र रूप दे दिया तथापि उन्होंने कई शताब्दियों तक अपने अगाध पाण्डित्य और अविश्रात परिश्रम से भीरु और नीच प्रतिद्वन्द्वियों की ओर से आघात पहुचते हुए भी अपनी मर्यादा को अविछिन्न रक्खा उसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

हिन्दू और अन्य धर्मावलम्बी राजाओं पर जैन धर्म का प्रभाव।

इन महान् विद्वानों का ऐसा प्रभाव था कि जिसके कारण कुमारपाल आदि अनेक शक्तिशाली राजा जैन धर्मावलवी हो गये और उनके हृदयो में दया भाव का ऐसा सचार हुआ कि उन्होंने जैनों के निवास स्थानों में पशुहिंसा रोकने के लिये फरमान (आज्ञा-पत्र) जारी कर दिये। कई मुसलमान बादशाहों ने आज्ञा पत्रों द्वारा समस्त भारतवर्ष में जहा जहा जैन मतावलम्बी रहते थे वहा पजूसन (पर्यूषण पर्व) पर पशु हिंसा न करने के लिये आज्ञा पत्र प्रकट कर दिये थे। सम्राट अकबर का एक ऐसा ही फरमान अब भी उपलब्ध है। कई देशी रियासतों में जैनो को अब भी यह अनूठा स्वत्व प्राप्त है।

टॉड साहिब के राजस्थान नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ से पता लगता है कि तत्कालीन राजपूत राणाओं और महाराणाओं पर जैनों का इससे भी अधिक प्रभाव था।

बडे बडे राजपूत राजाओं ने जैन साधुओं को बहुत से महत्वपूर्ण धार्मिक हक्क दिये थे। उनके उपाश्रयों के पास होकर कोई मनुष्य वध निमित्त पशु नहीं ले जा सकता था। बहुत से फरमानों में से हम यहा पर केवल एक फरमान काही उल्लेख करते हैं जिसे महाराणा श्री राजसिंहजी ने जारी किया था कि जैनियों के उपाश्रयों के पास से कोई भी नर या मादा पशु वध करने के लिये निकाला जायगा वह अमर कर दिया जावेगा--(याने उसे कोई जान से न मार सकेगा)। वर्तमान में भी कई देशी रियासतों में इस तरह के हक हकूक आज भी चालू हैं कि जिस मुहल्ले वा बाजार में जैन लोग बसते हैं उस मुहल्ले मे वध के लिये पशु नहीं ले जा सकते। अतएव साहित्य की अभिवृद्धि करके, बहुत से शक्तिशाली राजाओं को जैन धर्मावलंबी बनाकर निरपराध मूक जानवरों की रक्षा करके और देश के हरएक कोने कोने में जैन धर्म का प्रचार करके जैनों ने मानव जाति का बहुत बडा, और स्थायी कल्याण किया है।

जैनो का उपहास और उनपर अत्याचार।

परन्तु काल की गति बडी विचित्र है। जैन धर्म शनैः शनैः राजाओं के आश्रय से हटता गया और तब से केवल छोटे से व्यापारी वर्ग मे ही रह गया। इन शताब्दियों में जैनों मे बहुत कम नामी विद्वान् हुए जिससे उसके प्रतिवादियों का बहुत कम साम्हना हुआ। जब जैन धर्मान-

लवियों में इस प्रकार निर्बलता आ गई तब उसके प्रतिवादियों की बन आई। उन्होंने जैनों के धर्म शास्त्रों को जला दिये, उनके पवित्र स्थानों को अपवित्र कर दिये, उनके सिद्धान्तों का उपहास किया और उनको संसार की दृष्टि में गिराने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। यद्यपि तत्कालिन स्थिति का यह केवल अंशमात्र दिग्दर्शन है तथापि इसके प्रतिवादियों का जो अत्याचार इनपर हुआ है उसका अनुमान मात्र इससे हो सकता है।

जैन धर्म का साहित्य अनुपलब्ध है।

कहीं बचाखुचा साहित्य भी नष्ट न हो जाय, इस भय से जैनों ने उसे तहखाने में छिपा दिया। बहुत से बहु-मूल्य हस्तलिखित ग्रन्थ कीटकों के भक्षस्थान को प्राप्त हुए। अब भी जो कुछ बहुमूल्य जैन साहित्य बचा है वह भी विद्वानों को उपलब्ध नहीं है क्योंकि जैन साहित्य-भंडारों के स्वामी दूसरों को अपने ग्रन्थ दिखाने में बड़ा पक्षपात और विरोध करते हैं। उस पक्षपात और अत्याचार के जमाने में ग्रन्थों को इस प्रकार छिपाकर रखना आवश्यक था परन्तु वही पद्धति अब भी प्रचलित रखना किसी भी प्रकार जैन साहित्य की वृद्धि को हितकर नहीं हो सकती।

पाश्चिमात्य विद्वानों को जैन धर्म के विषय में भ्रम क्यों हुआ।

अतएव यह बात स्वाभाविक थी कि पुरातत्व की खोज करते समय पूर्वीय भाषाएं जानने वाले योरोपीय विद्वानों

को पहले पहल ब्राह्मणों का साहित्य हाथ लगा जो कि ठूस ठूंसकर पक्षपात और उपहास से भरा था।

उन विद्वानों को जैन साहित्य उपलब्ध न होने से उनको जैन धर्म के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिये ब्राह्मणों के ग्रन्थों का आश्रय लेना पडा। हम पहले ही कह चुके हैं कि ब्राह्मणों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे अपने जैन प्रतिद्वंदियों के सिद्धांतों की पक्षपात रहित आलोचना करें।

पाश्चिमात्य विद्वानों ने ब्राह्मणों के ग्रन्थों में जैन धर्म को विकृत रूप में पाया और इसालिये उनके हृदय में जैन धर्म के विषय में कुत्सित और घृणास्पद विचार पैदा हो गये। उन्होंने अशुद्ध सामग्री को लेकर तर्क करना शुरू किया और इसलिये वे सत्य को न ढूढ सके।

अभीही कुछ वर्षों से चन्द विद्वानोंने जिनके नेता प्रोफेसर जेकोबी हैं हमारे कुछ ग्रन्थों की छानबीन करना शुरू की है और जैन धर्म के विषय में जो भ्रमात्मक विधान फैले हुए हैं वे कुछ अंश में उनके द्वारा दूर हुए है। परन्तु अभी बहुत कुछ बाकी है। जैन साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और उसमें काम करनेवाले बहुत थोडे हैं इसलिये जैन धर्म के विषय में फैली हुई गलतफहमियों को दूर करने में और उसे उसके उच्च पद पर आसीन करने में अभी अधिक समय की आवश्यकता है।

यह बडे खेद की बात है कि युरोपियन विद्वानों का समागम जैनों के साथ न होने से जैन धर्म के विषय में उनका ज्ञान अशुद्ध और पक्षपात से भरा हुआ है। यही कारण है कि उन्होंने जैन ग्रन्थों का अनुवाद करने में उन ग्रन्थों के असली अभिप्राय और अर्थ को नहीं समझा और इसलिये जैन धर्म के विषय में उन्होंने अपने अशुद्ध मत कायम कर लिये।

जैन धर्मकी प्राचीनता पर अन्तिम वक्तव्य।

हमने पिछले पृष्ठों में जैन धर्म को अतीव प्राचीन सिद्ध कर दिखाया है। बहुत से इस पर आश्चर्य करेंगे और हमारे इस मत को शायद स्वीकार न करेंगे। उनका इस प्रकार संदेह करना स्वाभाविक ही है, क्योंकि भिन्न भिन्न धर्मों के अनुयायियों के हृदय में जैन धर्म के विषय में बहुत दिनों से विरोधाभाव घुसा हुआ है और हिन्दुओं एवं मुसलमानों ने जैनों के मन्दिरों का विध्वंस किया है और जैनों के धार्मिक साहित्य के बहुत से भाग को जला दिया है। यदि यह साहित्य उपलब्ध होता तो उससे इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण देने में बडी सहायता मिलती कि जैन धर्म शेष सभी धर्मों से प्राचीन और उत्कृष्ट है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि एक समय वह था जब जैन धर्म को बौद्धधर्म की शाखा माना जाता था परन्तु अब यह

सिद्ध होगया है कि यह मान्यता गलत है। इसी प्रकार अब शीघ्र ही वह समय आवेगा जब इस महत्वपूर्ण समस्या पर अधिक प्रकाश पड़ेगा। उस समय बड़े बड़े कट्टर विद्वानों को भी यह मानना होगा कि जैन धर्म सब धर्मों से प्राचीन धर्म है और शेष सभी धर्म उससे पीछे के हैं और इन धर्मों ने अपनी दार्शनिक और धार्मिक व्यवस्था के स्थिर करने में जैन धर्म से बहुत सहायता ली है।

इस जगह इतना स्थान नहीं है कि हम इस विषय पर अधिक विस्तार के साथ लिखें, परन्तु हमने अपने मत के समर्थन मे अबतक जितने प्रमाण दिये हैं वे संक्षिप्त होने पर भी ऐसे ठोस और अकाट्य हैं कि उनसे यह निस्सन्देह सिद्ध हो जाता है कि जैन धर्म के संस्थापक न तो पार्श्वनाथ थे न महावीर, किन्तु इस धर्म के आदि प्रवर्तक ऋषभदेव थे जिनका, अस्तित्व हिन्दुओं ने सृष्टि के आरंभ में स्वीकार किया है।

जैनों के तीन मुख्य सम्प्रदाय।

जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करने में अब हम श्वेताम्बर और दिगम्बरों का वर्णन करेंगे और यह भी बतलायेंगे कि ये दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे से किस प्रकार पृथक हुए और फिर श्वेताम्बरों के मूर्ति पूजक और साधुमार्गी विभाग कैसे बने। अंत में हम यह भी दिखलायेंगे कि इन तीनों सम्प्रदाय में से कौनसा सम्प्रदाय महावीर के असली उपदेशों का अनुयायी है।

जैनो के मुख्य तीन सम्प्रदाय हैं'–(१) दिगम्बर (२) श्वेताम्बर मूर्तिपूजक (३) श्वेताम्बर साधुमार्गी या जिनको स्थानकवासी भी कहते हैं।

इन तीनों सम्प्रदायों में से कौनसा सम्प्रदाय सब से प्राचीन है और जैन धर्म के असली सिद्धान्त के अनुसार चलता है, इसपर गत बहुत वर्षों से वाद विवाद चला आता है परन्तु इनका समाधान अभी तक सतोषजनक व प्रामाणिक तौर पर न हुआ। पिछले कुछ वर्षों में कुछ दिगम्बर और श्वेताम्बर मूर्तिपूजक भाइयों ने जैन धर्म पर कुछ पुस्तक अंग्रेजी में भी लिखी हैं, परन्तु विशेष कर धार्मिक पक्षपात के कारण ये पुस्तकें तीनों सम्प्रदाय के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डालती।

प्रोफेसर हरमन जेकाबी ने जैनो के श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों में विभाजित होने की समस्या को हल करने की चेष्टा की है परन्तु वे सत्य की खोज न कर सके। इसके दो कारण हैं। एक तो उन्होंने जैन सूत्रों के अर्थों को विना समझे अपने तर्कों पर खड़े किये व दूसरा उन्होंने सत्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये जैन साधुओं से स्वय पूछताछ नहीं की।

श्वेताबर और दिगबर दोनों सम्प्रदायों में उनके उत्पत्ति के विषय में परस्पर विरोधी कथाए प्रचलित हैं और प्रत्येक

संप्रदाय अपने आपको दूसरे से प्राचीन बतलाता है। परन्तु यह संतोषपूर्वक सिद्ध किया जासकता है कि दिगंबरों की उत्पत्ति श्वेताम्बरों के पीछे हुई है और वे महावीर के निर्वाण के बहुत समय बाद असली संघ से पृथक हुए हैं। परंतु ऐसा कहने के पहले यह आवश्यक है कि हम दोनों संप्रदायों के धार्मिक ग्रथों पर सरसरी निगाह डालें।

मूर्तिपूजक श्वेताबरों के सिद्धांत-सूत्र पैंतालिस हैं परन्तु साधु मार्गियों को इनमें से केवल बत्तीस सूत्र मान्य हैं। इसके विपरीत दिगम्बर भाई इन सूत्रों को नहीं मानते और यह कहते हैं कि महावीर के कहे हुए असली सूत्र नष्ट हो गये। यद्यपि श्वेताम्बर सूत्रों के नाम असली सूत्रों के नामोंसे मिलते हैं तथापि उन्हों ने अपने सूत्र पीछे मे गढे हैं। अतएव दिगम्बरों ने अपने शास्त्र स्वयं ही बनाये हैं और ये शास्त्र श्वेताम्बरों के शास्त्रों से कई आवश्यक बातों में नहीं मिलते।

महावीर के सच्चे अनुयायी श्वेताम्बर हैं या दिगम्बर, इस प्रश्न का उत्तर उसी समय दिया जा सकता है जब दोनों सम्प्रदायों के शास्त्रों का रचना-काल ठीक ठीक मालूम हो जाय। जिस सम्प्रदाय के पास महावीर के कहे हुए असली सूत्र हैं और जो उनके अनुसार चलता है वही सम्प्रदाय जैन धर्म का सच्चा अनुयायी कहला सकता है। अतएव यह

मालूम करना अभीष्ट और आवश्यक है कि दोनों सम्प्रदायों में से किसके पास असली और प्राचीन शास्त्र हैं।

प्रोफेसर हरमन जेकोबी ने जैन सूत्रों के अनुवाद की भूमिका में बड़ी योग्यता से सिद्ध कर दिया है कि श्वेताम्बरों के वर्तमान शास्त्र महावीर के कहे हुए ही हैं और परम्परा से ज्यों के त्यों चले आते हैं।

उन्होंने अपने मत के समर्थन में जो मुख्य प्रमाण दिये हैं उनको हम यहा संक्षेप में देते हैं।

(१) "बहुतसा प्राचीन जैन साहित्य अब उपलब्ध हो गया है और जो लोग जैन सम्प्रदाय के प्राचीन इतिहास के लिये सामग्री इकट्ठी करना चाहते हैं उनको इस साहित्य से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। यह सामग्री ऐसी नहीं है कि जिसकी प्रामाणिकता पर हम सन्देह करें। हम जानते हैं कि जैनों के धर्म शास्त्र प्राचीन हैं, जिस संस्कृत साहित्य को हम प्राचीन कहते हैं जैन शास्त्र निस्सदेह उससे भी प्राचीन हैं।

उनमें पुरातत्व की सामग्री कितनी है, इस विषय में हम यह कह सकते हैं कि उनमें से बहुत से शास्त्र उत्तरी बौद्धों के सबसे प्राचीन ग्रन्थों का मुकाबला कर सकते हैं चूंकि इन पिछले ग्रन्थों से बुद्ध और बौद्ध धर्म के इतिहास की सामग्री

प्राप्त करने मे बडी सफलता हुई है, इसलिये ऐसा कोई कारण नहीं है कि हम जैन शास्त्रों को जैन इतिहास का प्रामाणिक साधन न मानें।"

(२) ये सब बातें सिद्ध यह करती हैं कि जैन शास्त्रोंके लिपिबद्ध होने के पहिले भी जैनों का धर्म मर्यादा रहित एव अनिश्चित नहीं था कि जिसके कारण उसमें अन्य भिन्न २ धर्मोंके कारण हेरफेर होने और बिगडनेका डर रहता, किंतु उस समय भी जैन धर्म में छोटी से छोटी बातें भी निश्चित रूप से वर्णित की गई थी। जैनों के धार्मिक सिद्धान्तों के विषय में जो कुछ सिद्ध किया गया है, उसी प्रकार उनकी ऐतिहासिक जैन श्रुतियों के विषय में भी सिद्ध किया जा सकता है।

(३) जैन श्रुतिया एक मत होकर कहती हैं कि वल्लभि की सभा में और देवर्द्धि के सभापतित्वमें जैन सिद्धात की व्यवस्था हुई है और कल्पसूत्र में इस घटना का समय जो सन् ४५४ ई० है दिया है। जैन श्रुतियों से मालूम होता है कि देवर्द्धि को यह भय हुआ कि कहीं सिद्धात लुप्त न होजाय इसलिये उन्होंने उसे शास्त्रों मे लिपिबद्ध करा दिया।

अतएव जैनों के धार्मिक साहित्य के साथ देवर्द्धि का जो सबंध है उसके विषय में हमारा मत जन साधारण के मत से कुछ भिन्न है। यह प्रायः ठीक मालूम होता है कि

देवर्द्धि ने उस समय की उपलब्ध हस्तलिखित सामग्री को सिद्धात के रूप में व्यवस्थित कर दिया और जो ग्रन्थ उस समय लिपिबद्ध न थे उनको विद्वान् धर्माचार्यों के मुख से सुन कर लिख डाला। इसलिये इस सिद्धान्त की यह आवृत्ति जिसका सम्पादन देवर्द्धि ने किया है, उन शास्त्रों का केवल सुव्यवस्थित रूप है जो उनके पहले प्रायः उसी रूप में मौजूद था।"

(४) "परतु एक वडी महत्वकी दलील यह है कि हमको सिद्धात म ग्रीस की ज्योतिर्विद्य की गध भी नहीं आती। ××× चूकी ग्रीस की ज्योतिर्विद्या का पदार्पण भारतवर्ष में इस्वी सन् की तीसरी या चौथी शताब्दि से माना जाता है इसलिये जैनों के शास्त्र उससे भी पहिले लिपिबद्ध हुए थे"।

(५) "हम सिद्ध कर चुके हैं कि जैन सिद्धात के सब से प्राचीन ग्रथ ललित विस्तार की गाथाओं मे भी पुराने हैं। चूकि यह कहा जाता है कि ललित विस्तार का अनुवाद चीनी भाषा में इस्वी सन् ६५ के लगभग हुवा था इसलिये हम वर्तमान जैन साहित्यकी उत्पत्ति ईसवीसन् से भी पहलेकी मानते हैं"।

(६) "यदि हमारी उपरोक्त खोज का परिणाम मानने के योग्य है, क्यों कि मुझे उसके विरुद्ध कोई दलील नहीं देख पडती—तो वर्तमान जैन साहित्य की उत्पत्ति इसा से ३०० वर्ष से अधिक ज्यादा पहिले नहीं मानी जा सकती"।

(७) " हमारा वादविवाद यहीं पर समाप्त होता है। मैं आशा करताहूं कि इससे यह सिद्ध हो गया है कि जैन धर्म के विकास में किसी समस भी किसी असाधारण घटनाके कारण कोइ बडी रुकावट पैदा नहीं हुई। हम इस विकास को शुरू से अबतक क्रमशः देख सकते हैं और जैन धर्म दूसरे धर्मों से व विशेपकर बौद्ध धर्म से इतना स्वतन्त्र है जितना कि कोई धर्म हो सकता है। इस विषय का विस्तार-पूर्वक विवेचन भविष्य की खोजों से हो सकेगा परतु मैं आशा करता हू कि जैन धर्म की स्वतन्त्रता के विषय में और जैन धर्म के प्राचीन इतिहास के निर्माण के लिये जैन शास्त्रों के विश्वसनीय होने में कुछ विद्वानों को जो सदेह है उनको मैंने दूर कर दिया है "।

ऊपर की दलीलों से स्पष्ट होगया होगा कि प्रोफेसर हरमन जेकोबी ने ईसा से पूर्व तीसरी सदी तक अर्थात् महावीर के दोसौ वर्ष बाद तक जैन सिद्धान्त की प्राचीनता सतोष पूर्वक क्रमानुसार दिखला दी है। अब हमको केवल दोसौ वर्ष के उस मध्यवर्ती समय को पूरा करना है जो महावीर के निर्वाण काल और प्रोफेसर जेकोबी द्वारा निश्चित जैन सिध्दान्तों के उत्पत्ती काल के बीच में पडता है।

इस कार्य के लिये हमको यह जानना आवश्यक है कि इस विषय में जैन साहित्य क्या कहता है? जैन ग्रथों में

साफ लिखा है कि महावीर ने स्वय जैन धर्म का उपदेश अपने शिष्यों को दिया और फिर इन शिष्यों ने अगो की रचना की। ये ही अग जैन सिद्धान्त के मुख्य अश हैं। परन्तु इस विषय में प्रोफेसर जेकोबी का मत भिन्न है। वे कहते हैं कि जैन जिस साहित्य को पूर्व कहते हैं वह अगों के भी पहले विद्यमान था और उसमें महावीर और उनके धार्मिक प्रतिद्वंदियों के बीच में जो वाद विवाद हुआ था उसका हाल लिखा था। अपने मत के समर्थन में वे कहते हैं कि प्रत्येक पूर्व का नाम "प्रवाद" अर्थात् वादविवाद है और इसलिये वे दार्शनिक वादविवादों से भरे हुए थे जैसा कि उन नामों से प्रकट होता है।

इसके सिवाय वे यह भी कहते हैं कि चूंकि पूर्वों में वाद विवाद युक्त साहित्य था, इसलिये जब महावीर के प्रतिद्वंदी मर गये तब पूर्वों की उपयोगिता जाती रही और इस तत्कालीन स्थिति के अनुकूल ईसा से ३०० वर्ष पहले पाटलिपुत्र की सभा में एक नया सिद्धात रचा गया।

जेकोबी साहब का उपरोक्त मत बिलकुल गलत है और उनका समर्थन किसी प्रकार नहीं हो सकता। वे अपने मत के समर्थन में जैनों की एक जन-श्रुति का हवाला देते हैं, परन्तु अभयदेव ने समवायाग सूत्र की टीका में इस जनश्रुति को असत्य ठहराया है और लिखा है कि महावीर ने

जैन सिद्धांतों का उपदेश गणधरों को दिया और फिर उन्होंने आचारांग आदि को लेकर द्वादश अंगोंकी रचना की। उन्होंने आगे चलकर लिखा है कि बारहवें अंग में पूर्व, सम्मिलित थे। समस्त अंगों और उनकी टीकाओं में समान रूप से यही लिखा है कि पूर्व, बारहवें अग में सम्मिलित थे और इसलिये अन्य अंगों के साथ में मौजूद थे।

पूर्वों में क्या लिखा है।

इसके सिवाय जेकोबी के मतानुसार सभी पूर्वों मे वाद-विवादयुक्त साहित्य न था। पूर्वों की सख्या चौदह थी। इनके नाम और इनमें लिखित विषयों का सक्षिप्त वर्णन जैन सूत्रों में दिया है और इस वर्णन से हम जान सकते हैं कि केवल कुछ पूर्वों में ही वादविवादयुक्त बातें थीं और शेष पूर्वों में केवल जैन दर्शन का वर्णन किया गया था।

पूर्वोंके संबंध मे प्रो. जेकोबी के अनुमान का खंडन।

प्रोफेसर जेकोबी का मत है "कि पूर्वों का, अस्तित्व, केवल भद्रबाहु के समय तक अर्थात् महावीर के निर्वाण के लगभग दोसौ वर्ष बाद तक ही रहा और इस समय के बाद पूर्व सर्वथा विलुप्त हो गये"। यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्यों कि पूर्वों का अस्तित्व वल्लभि की सभा तक जो ४५४ ई० में हुई थी, मिलता है, जैन पट्टावली और

अन्य प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है कि वल्लभि की सभा के सभापति देवर्द्धिगणी को, जो पट्टावली में २७ वें पाट पर हैं, महावीर के निर्वाण के बाद लगभग एक पूर्व का ज्ञान था। देवर्द्धि के पहले जो २६ आचार्य हो गये हैं उनमें से कुछ तो समस्त चौदह पूर्वों का ज्ञान रखते थे और कुछ को चौदह से कम पूर्वों का ज्ञान था। इन आचार्यों के सिवाय वल्लभि की सभा के पहले बहुत से अन्य विद्वान् साधु भी ऐसे थे जिनको पूर्वों का न्यूनाधिक ज्ञान था। देवर्द्धिगणी अन्तिम पूर्वधारी थे और फिर उनके बाद पूर्वों का ज्ञान सर्वथा विस्मृत होगया। अतएव मालूम होता है कि महावीर के निर्वाण के १००० वर्ष बाद भी पूर्वों के कुछ अंश का ज्ञान मौजूद था।

जब विश्व में ऐसे विश्वसनीय प्रमाण मौजूद हैं। तब यह मानना न्याय संगत नहीं है कि पूर्वों का अस्तित्व, अंगों के पहले था, वे वाद विवादपूर्ण थे, वे शनैः शनैः लुप्त हो गये और एक नया सिद्धान्त जो अभी कायम है, पाटलीपुत्र की सभा में ईसा से तीन सौ वर्ष पहले तैयार किया गया।

परन्तु कुछ विद्वान् यह स्वीकार करने पर भी कि पूर्व अंगों में ही सम्मिलित थे, इस बात पर आपत्ति करेंगे कि अंगों की रचना महावीर के समय में हुई थी। क्यों कि पाटलीपुत्र की सभा के पहले अंगों की प्राचीनता सिद्ध करने

के लिये कोई प्रमाण नहीं मिलते। परन्तु इस आपत्ति में बहुत थोड़ा सार है क्यों कि यह मानना युक्तिसगत नहीं है कि महावीर और पाटलीपुत्र के मध्य वर्तीकाल में अर्थात् दोसौ वर्ष से भी अधिक समय तक जैनों के पास धार्मिक पथ दिखाने वाला साहित्य ही न था।

इसी प्रकार यह मानना भी उतना ही असंगत है कि पाटलीपुत्र की सभा के पहले महावीर के समय में किसी दूसरे ही सिद्धान्त का प्रचार था और फिर उपरोक्त सभा में एक नया सिद्धान्त गढा गया। यदि उस समय पहले के सिद्धान्त ग्रन्थ मौजूद होते तो उनका उल्लेख उस सिद्धान्त में अवश्य पाया जाता जो पाटलीपुत्र की सभा में रचा गया बतलाया जाता है और साथ ही साथ वे हेतु भी लिखे जाते, जिनके कारण प्राचीन सिद्धान्त-ग्रन्थों के स्थान में नवीन ग्रन्थ रचे गये। परन्तु जैन साहित्य के समस्त संग्रह में इन बातों का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इसलिये हम प्रोफेसर जेकोबी की कल्पना को स्वीकार नहीं कर सकते।

इसके साथ यह भी याद रखना चाहिये कि जैन ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा हुआ है कि पाटलीपुत्र में जैन सिद्धान्त का केवल संग्रह किया गया था, उनकी रचना नहीं की गई थी। इसके सिवाय प्रोफेसर जेकोबी की दलीलें ऐसी मजबूत नहीं हैं कि हम जैन ग्रन्थों के स्पष्ट लेखों को अस्वीकार करें।

महावीर और पाटलीपुत्र के मध्यवर्ती काल की इस प्रकार पूर्ति करने में केवल यही नतीजा निकलता है कि हम इस बात पर विश्वास करें कि जिन सिद्धान्त ग्रन्थों का संग्रह पाटलीपुत्र में हुआ था वे सभा के पहले मौजूद थे और उनकी रचना पहले पहल महावीर के गणधरों (शिष्यों) ने की थी। सिद्धान्त-ग्रन्थों और उनकी टीकाओं में भी यही बात मिलती है।

सिद्धान्त-ग्रन्थो की रचना शैली, प्रश्नों और उत्तरो के लिखने की रीति, समस्त साहित्य का क्रम और बहुत सी अन्य महत्वपूर्ण बातें जिनको विस्तार के भय से यहा पर नहीं लिख सकते। उपरोक्त कथन का बहुत कुछ समर्थन करती हैं।

उपरोक्त प्रमाणों के समर्थन में बौद्ध सूत्रों के प्रमाण—

बौद्धों के मज्झिम निकाय नामक ग्रथ में महावीर के शिष्य उपाली और गौतम बुद्ध में जो विवाद हुआ था, उसका वर्णन है। जेकोबी ने इस वर्णन को इस प्रकार लिखा है — निग्गथ उपाली कहते है कि दड तीन प्रकार के होते हैं (१) काया का दंड (२) वचन का दड (३) और मनका दड। स्थानाग सूत्र के त्रितीय उद्देशक में जो जैन सिद्धान्त दिया है वह ज्यों का त्यों यही है।

के लिये कोई प्रमाण नहीं मिलते। परन्तु इस आपत्ति में बहुत थोडा सार है क्यों कि यह मानना युक्तिसंगत नहीं है कि महावीर और पाटलीपुत्र के मध्यवर्तीकाल मे अर्थात् दोसौ वर्ष से भी अधिक समय तक जैनों के पास धार्मिक पथ दिखाने वाला साहित्य ही न था।

इसी प्रकार यह मानना भी उतना ही असंगत है कि पाटलीपुत्र की सभा के पहले महावीर के समय में किसी दूसरे ही सिद्धान्त का प्रचार था और फिर उपरोक्त सभा में एक नया सिद्धान्त गढा गया। यदि उस समय पहले के सिद्धान्त ग्रन्थ मौजूद होते तो उनका उल्लेख उस सिद्धान्त में अवश्य पाया जाता जो पाटलीपुत्र की सभा में रचा गया बतलाया जाता है और साथ ही साथ वे हेतु भी लिखे जाते, जिनके कारण प्राचीन सिद्धान्त-ग्रन्थो के स्थान में नवीन ग्रन्थ रचे गय। परन्तु जैन साहित्य के समस्त संग्रह में इन बातों का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इसलिये हम प्रोफेसर जेकोबी की कल्पना को स्वीकार नहीं कर सकते।

इसके साथ यह भी याद रखना चाहिये कि जैन ग्रन्थों मे स्पष्ट लिखा हुआ है कि पाटलीपुत्र में जैन सिद्धान्त का केवल संग्रह किया गया था, उनकी रचना नहीं की गई थी। इसके सिवाय प्रोफेसर जेकोबी की दलीलें ऐसी मजबूत नहीं हैं कि हम जैन ग्रन्थों के स्पष्ट लेखों को अस्वीकार करें।

ाधु नग्न रहते हैं और इसी कारण हम अत्यन्त प्राचीन काल ा दिगम्बर कहलाते हैं और इसलिये हम जैन धर्म के सबसे ाचीन और असली अनुयायी हैं। वे यह भी कहते हैं कि ीर्थंकरों के नियमों के विरुध्द श्वेताम्बर साधु वस्त्र पहनते हैं, नके धर्म शास्त्र प्रामाणिक नहीं हैं, उनकी उत्पत्ति दिगम्बरों से ुई है, और इसलिये वे अर्वाचीन हैं।

दिगम्बरों के उक्त दावे झूठे हैं।

दिगम्बरों की इन उक्त दलीलों में कुछ भी सार नहीं है यह निम्न लिखित बातों से मालूम होगा:—

(१) उपरोक्त पृष्ठों में हमने सतोषपूर्वक सिध्द करदिया है कि श्वेताम्बरों के शास्त्र सब से प्राचीन हैं। उनको महावीर के शिष्यों ने रचा था। वे परपरा से प्राय उसी रूप में अब तक चले आते हैं और जैन इतिहास के निर्माण के लिये उनपर सब से अधिक विश्वास किया जा सकता है। इन दलीलों के आधार से दिगम्बरों के दावे क सम्बन्ध में अधिक विवेचन करना आवश्यक नहीं रहता। हम अब उनके अन्य प्रतिवादों का उत्तर देते हैं।

(२) दिगम्बरों का कथन है कि महावीर ने मुनियों को नग्न रहने का उपदेश दिया और उस समय सभी मुनि नग्न रहते थे। अब यह मालूम करना चाहिये कि तिर्थंकरों

यह और अन्य जैन सिद्धान्त बौद्ध-सूत्रों में प्रायः इन्ही शब्दों में लिखे हुए मिलते हैं। जिन शब्दों में वे वर्तमान जैन सूत्रों में दिये हुवे हैं। ये बात बड़े महत्व की है और इससे अगों की प्राचीनता के विशय में सभी सदेह दूर हो जाते हैं। इस एक बात से ही विपक्ष में जितनी दलीलें उठाई जाय वे सब रद्द हो जाती हैं।

उपरोक्त दलीलें इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि देवार्द्धि के समय में श्वेताम्बरों के सिध्दान्त-ग्रथ केवल लिपिबध्द हुए थे। उस समय से पहले वे प्राय॰ कण्ठस्थ थे और वे अब तक उसीरूप मे चले आते हैं, जिस रूप में गणधर ने उनकी रचना की थी।

जैन सिद्धान्तो का ऐतिहासिक महत्व।

अतएव इतिहास के महत्वपूर्ण प्रश्नों को हल करने में हम इस प्राचीन साहित्य से निर्भय होकर सहायता ले सकते हैं। इसी बात के आधार पर हम यह सिध्द कर सकेंगे कि दिगम्बर अर्वाचीन हैं और वे महावीर के कई सदियों बाद अपनी सम्प्रदाय से जुदा हुवे हैं।

अपनी प्राचीनता के विषय में दिगम्बरों का दावा।

दिगम्बर यह कहते हैं कि सब तर्थिंकर नग्न रहते थे, महावीर ने साधुओं को नग्न रहने का उपदेश दिया था और हमारे

साधु नग्न रहते हैं और इसी कारण हम अत्यन्त प्राचीन काल से दिगम्बर कहलाते हैं और इसलिये हम जैन धर्म के सबसे प्राचीन और असली अनुयायी हैं। वे यह भी कहते हैं कि तीर्थंकरों के नियमों के विरुध्द श्वेताम्बर साधु वस्त्र पहनते हैं, उनके धर्म शास्त्र प्रामाणिक नहीं हैं, उनकी उत्पत्ति दिगम्बरों से हुई है, और इसलिये वे अर्वाचीन हैं।

दिगम्बरों के उक्त दावे झूठे हैं।

दिगम्बरों की इन उक्त दलीलों में कुछ भी सार नहीं है यह निम्न लिखित बातों से मालूम होगा:—

(१) उपरोक्त पृष्टों में हमने सतोषपूर्वक सिध्द करदिया है कि श्वेताम्बरों के शास्त्र सब से प्राचीन हैं। उनको महावीर के शिष्यों ने रचा था। वे परपरा से प्राय उसी रूप में अब तक चले आते हैं और जैन इतिहास के निर्माण के लिये उनपर सब से अधिक विश्वास किया जा सकता है। इन दलीलों के आधार से दिगम्बरों के दावे क सम्बन्ध मे अधिक विवेचन करना आवश्यक नहीं रहता। हम अब उनके अन्य प्रतिवादों का उत्तर देते हैं।

(२) दिगम्बरों का कथन है कि महावीर ने मुनियों को नग्न रहने का उपदेश दिया और उस समय सभी मुनि नग्न रहते थे। अब यह मालूम करना चाहिये कि तिर्थंकरों

यह और अन्य जैन सिद्धान्त बौद्ध-सूत्रों में प्रायः उन्ही शब्दों में लिखे हुए मिलते हैं। जिन शब्दों में वे वर्तमान जैन सूत्रों में दिये हुवे हैं। ये बात बड़े महत्व की है और इससे अगों की प्राचीनता के विशय में सभी संदेह दूर हो जाते हैं। इस एक बात से ही विपक्ष में जितनी दलीलें उठाई जाय वे सब रद्द हो जाती हैं।

उपरोक्त दलीलें इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि देवार्द्धि के समय में श्वेताम्बरों के सिध्दान्त-ग्रंथ केवल लिपिबध्द हुए थे। उस समय से पहले वे प्राय॰ कण्ठस्थ थे और वे अब तक उसीरूप में चले आते हैं, जिस रूप में गणधर ने उनकी रचना की थी।

जैन सिद्धान्तों का ऐतिहासिक महत्व।

अतएव इतिहास के महत्वपूर्ण प्रश्नों को हल करने में हम इस प्राचीन साहित्य से निर्भय होकर सहायता ले सकते हैं। इसी बात के आधार पर हम यह सिध्द कर सकेंगे कि दिगम्बर अर्वाचीन हैं और ये महावीर के कई सदियों बाद अपनी सम्प्रदाय से जुदा हुवे हैं।

अपनी प्राचीनता के विषय में दिगम्बरों का दावा।

दिगम्बर यह कहते हैं कि सब तीर्थंकर नग्न रहते थे, महावीर ने साधुओं को नग्न रहने का उपदेश दिया था और हमारे

हैं। उदाहरणार्थ बुद्धघोषने धम्मपदम् पर जो टीका लिखी है उसमें कुछ भिक्कुओं के विषय में लिखा है कि वे अचेलकों को निग्गथों में अच्छा समझते थे, क्यों कि अचेलक सर्वथा नग्न रहते थे और निग्गंथ किसी न किसी प्रकार का वस्त्र लज्जा के लिये धारण करते थे। यह कल्पना भिक्कु की गलत थी। बौद्ध, मक्खलि गोशाला के अनुयायियों को अचेलक कहते थे। ”

अतएव बौद्ध सूत्रों में निग्गथ अर्थात् जैन साधुओं के इस हवाले से मालूम होता है कि महावीर के समकालीन बुद्ध देव के समय में जैन साधु वस्त्र धारण करते थे। यदि महावीर और अन्य तीर्थकरोंने वस्त्र धारण करने का सर्वथा निषेध किया होता तो साधुओं के लिये शास्त्रों के आदेश के प्रतिकूल आचरण करना सभव न होता। इस से यह स्पष्ट है कि महावीर के समय में दिगबरों के कथनानुसार सभी जैन साधु नग्न नहीं रहते थे। अतएव वे नग्नता के आधार पर महावीर के असली अनुयायी होने का दावा नहीं कर सकते।

(४) हमारे पास एक ऐसी ही अकाट्य दलील और है जिससे मालूम होता है कि जैन सूत्रों में सर्वथा नग्नता की अनुज्ञा नहीं हैं। इस को सिद्ध करने के लिये हम उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्याय में से एक ऐसे अश का उल्लेख करते हैं

ने सभी मुनियों को नग्न रहने का उपदेश दिया था या नहीं। धर्म शास्त्रों से यह स्पष्ट रीति से मालूम होजायगा कि महावीर ने यह उपदेश कदापि नहीं दिया कि सभी साधु नग्न रहें।

जैन शास्त्रों में लिखा है कि यदि कोई साधु नग्न रहना चाहे तो रह सकता है। जब वह आत्म-ज्ञान की सीढ़ियों पर ऊंचा चढ़ जाय तब वह अपनी इच्छानुसार वस्त्रों को त्याग कर नग्न रह सकता है। परन्तु वस्त्र धारण करने से आत्मा की उन्नति में किसी तरह की बाधा न आनेसे नग्नता को अनिवार्य नहीं रक्खा गया किन्तु मुख्य मुख्य प्रसंगों में ही उसका विधान किया गया। वैसे ही उस समय की परिवर्तित स्थिति के अनुसार महावीर के निर्माण के कुछ समय बाद ही यह प्रथा बंद कर दी गई। अतएव साधु अपनी इच्छानुसार नग्न रह सकते थे। नग्नता अनिवार्य नहीं थी। इसलिये यह सिद्ध होता है कि शास्त्रों में अनिवार्य नग्न रहने का उपदेश नहीं है।

बौद्ध सूत्रों में इस बातके प्रमाण मिलते हैं कि जैन साधु वस्त्र धारण करते थे।

(३) बौद्ध सूत्रों से यह मालूम होता है कि जैन साधु वस्त्र धारण करते थे। हरमन जैकोबी ने जैन सूत्रों की भूमिका में लिखा है कि " बौद्ध अचेलकों और निर्गंथों में भेद मानते

२९, ३०, और ३१ नम्बर के पद्य अधिक महत्व के हैं और उनसे उस प्रश्न पर जो हमने उठाया है बहुत प्रकाश पड़ता है। इन पद्यों की व्याख्या, टीका में बहुत स्पष्ट दी हुई है और इसलिए मैं नीचे उनका संक्षिप्त अनुवाद देता हूं।

केसी गौतम से पूछते हैं कि "चौवीसवें तीर्थंकर वर्धमान ने साधुओं को परिमित संख्या में सफेद और साधारण वस्त्रों को धारण करने की आज्ञा दी है, परन्तु तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वने वस्त्र धारण करने की आज्ञा देनेमें रंग रूप अथवा संख्या की कोई मर्यादा नहीं रखी है।"

हे गौतम! जब कि दोनोंने एक से उद्देशों को सामने रख कर नियम बनाये हैं तो फिर इस मतभेद का क्या कारण है? हे गौतम! क्या आपको वस्त्र संबंधी इस दोहरे नियम के कारण कुछ संदेह नहीं होता?

गौतम उत्तर देते हैं कि हे केसी! तीर्थंकरों ने अपने केवल-ज्ञान द्वारा इस बातका निर्णय करके साधुओं की प्रवृतियों के अनुसार (धार्मिक जीवन के लिये) साधनों और बाह्य चिन्हों की आज्ञा दी है। एक तरफ तो उन्हों ने ऐसे बाह्य चिन्ह बतलाये हैं जो सरल स्वभाव व तेज विचार वाले साधुओं के लिए उपयुक्त हैं और दूसरी तरफ उन्होंने उन साधुओं के लिए बाह्य चिन्ह बतलाये हैं जिनकी मनोवृत्ति इसके प्रतिकूल है"।

जो इतिहास के लिये बडे काम का है। परन्तु ऐसा करने से पहले जैकोबी द्वारा संपादित जैन सूत्रों की भूमिका में से एक अवतरण दिया जाता है जिससे यह मालूम हो जायगा कि वह अध्याय विश्वसनीय है। जैकोबी ने लिखा है कि "अब सब लोग मानने लगे हैं कि यह प्रायः ठीक ही है कि पार्श्व (जो जैनों के २३ वें तीर्थंकर थे और महावीर के २५० वर्ष पहले विद्यमान थे) ऐतिहासिक पुरुष थे। महावीर के समय में उनकी सम्प्रदाय के नेता केसी नामके मुनि थे। केसी का नाम जैन सूत्रों में कईबार ऐसी गंभीरता के साथ आया है कि हमको उन लेखों के प्रामाणिक होने में कुछ भी संदेह नहीं मालूम होता।"

तेईसवें अध्याय का सारांश यह है:—

केसी और गौतम जो जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों के (अर्थात् पार्श्वनाथ और महावीर के संप्रदायों के) प्रतिनिधी और नेता थे। अपने शिष्यों के सहित श्रावस्ती के निकट एक वाटिका में एकत्रित हुए। दोनों संप्रदायों में जैन साधुओं के महाव्रतों के विषय में और उनके वस्त्रों के रंग रूप और संख्या के विषय में कुछ मतभेद था। उन दोनों ने मिलकर बिना वादविवाद किये ही इन मतभेदों के कारण समझकर ऐक्यता करली।

२९, ३०, और ३१ नम्बर के पद्य अधिक महत्व के हैं और उनसे उस प्रश्न पर जो हमने उठाया है बहुत प्रकाश पड़ता है। इन पद्यों की व्याख्या, टीका में बहुत स्पष्ट दी हुई है और इसलिए मैं नीचे उनका संक्षिप्त अनुवाद देता हूं।

केशी गौतम से पूछते हैं कि "चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान ने साधुओं को परिमित संख्या में सफेद और साधारण वस्त्रों को धारण करने की आज्ञा दी है, परन्तु तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वने वस्त्र धारण करने की आज्ञा देनेमें रंग रूप अथवा संख्या की कोई मर्यादा नहीं रखी है।"

हे गौतम! जब कि दोनोंने एक से उद्देशों को सामने रख कर नियम बनाये हैं तो फिर इस मतभेद का क्या कारण है? हे गौतम! क्या आपको वस्त्र संबंधी इस दोहरे नियम के कारण कुछ संदेह नहीं होता?

गौतम उत्तर देते हैं कि हे केसी! तीर्थंकरों ने अपने केवल-ज्ञान द्वारा इस बातका निर्णय करके साधुओं की प्रवृतियों के अनुसार (धार्मिक जीवन के लिये) साधनां और बाह्य चिन्हों की आज्ञा दी है। एक तरफ तो उन्हों ने ऐसे बाह्य चिन्ह बतलाये हैं जो सरल स्वभाव व तेज विचार वाले साधुओं के लिए उपयुक्त हैं और दूसरी तरफ उन्होंने उन साधुओं के लिए बाह्य चिन्ह बतलाये हैं जिनकी मनोवृत्ति इसके प्रतिकूल है"।

"महावीर के अनुयायियों का स्वभाव वक्र और लापरवाही करने का था, इसलिए संभव था कि वे रंगीन वस्त्रों का पक्ष ग्रहण करके उनकी ओर मन चलाते। यही कारण था कि उनको केवल श्वेत वस्त्र धारण करने की आज्ञा का आदेश किया गया। परन्तु पार्श्वनाथ के अनुयायी सरलता और सदाचार की तरफ झुके हुए थे, इसलिए वे वस्त्रों को अपनी नग्नत्व लज्जा ढकने का साधन मात्र समझते थे और वस्त्रों के प्रति तनिक भी मोह अथवा पक्षपात न रखते थे। इन्हीं पृथक् पृथक् बातों के कारण भिन्न भिन्न प्रकार के वस्त्रों का आदेश दिया गया"।

जैनधर्म के दो प्रसिद्ध आचार्य केसी और गौतम के उपरोक्त वार्तालाप से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि महावीर ने केवल रंगीन वस्त्रों की जिनको पार्श्व के अनुयायी धारण करते थे, मनाई की थी और परिवर्तित परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुसार रंगीन वस्त्रों के स्थान में केवल श्वेत वस्त्र धारण करने का आदेश किया था।

इससे निकलनेवाला परिणाम।

जब ऐसे पुष्ट प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि पार्श्व और महावीर दोनों ने ही वस्त्र धारण करने की आज्ञा दी, तब दिगम्बरों का यह कहना कि हम ही महावीर के सब से प्राचीन और असली अनुयायी हैं और तीर्थंकरों ने सर्वथा

नग्न रहने का ही आदेश किया था, युक्ति संगत नहीं है। इसके प्रतिकूल अनेक हेतुओं द्वारा हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि पार्श्वनाथ अथवा महावीर स्वामी के समय दिगंबर सम्प्रदाय अस्तित्वमें न था।

प्राचीनताके विषय में दिगंबरों के दावे की सत्यासत्यता।

अब हमको जैन और बौद्ध सूत्रों की भी छान-बीन करनी चाहिए और यह मालूम करना चाहिए कि उनमें कोई उल्लेख ऐसा भी है जिससे दिगंबरों के प्राचीन होने के दावे का समर्थन हो सके।

(१) बौद्ध सूत्रों में जैनों का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है, परंतु उनमें जैनों को श्रमण अथवा निग्रथ कहा गया है। किसी स्थान पर भी उनको दिगबरों के नाम से नहीं पुकारा गया।

(२) जैन और बौद्ध सूत्रों में ऐसे अनेक धर्मों का उल्लेख मिलता है, जिनका प्रचार महावीर और बौद्ध के समय था। उदाहरणार्थ जैनों के भगवती सूत्र में और बौद्धों के मज्झिम-निकाय सूत्र में गोशाला और उनके धार्मिक सिद्धान्तों का सपूर्ण विवरण मिलता है। यदि उस समय दिगंबरों जैसी कोई सम्प्रदाय का अस्तित्व होता तो महावीर और बुद्ध

दोनों ही उसका उल्लेख करने से न चूकते, क्यों कि वे सर्वथा नग्न रहने के विषय में दिगंबरों से मतभेद रखते थे। चूँकि इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता इसलिए यह सिद्ध होता है कि उस समय दिगंबर इस नामकी संप्रदाय का सर्वथा अभाव था।

(३) दिगंबर यह भी मानते हैं कि स्त्रिया मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती। जैन और बौद्ध सूत्रों में कहीं भी इस सिद्धान्त का उल्लेख नहीं मिलता। यह सिद्धात केवल दिगंबरों को ही मान्य है और लगभग सभी धर्मों के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। यदि प्राचीन भारत में ऐसे सिद्धान्तो को मानने वाला कोई धर्म होता, तो बौद्ध और जैन सूत्रों में उसका खास तौर पर उल्लेख मिलता और उसमें उसकी कड़ी समालोचना भी मिलती।

(४) स्वय दिगंबरो के शास्त्रों में अनेक पुष्ट प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे और उन० धार्मिक सिद्धात अर्वाचीन हैं। हम पहले ही बतला चुके हैं कि दिगंबर संप्रदाय का अथवा श्वेताम्बरों के शास्त्रों से भिन्न दिगंबर शास्त्रों का उल्लेख न तो जैन शास्त्रों में मिलता है और न बौद्ध शास्त्रों में। दिगंबर शास्त्रों में श्वेताम्बर और उनके सूत्रों का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है। कई स्थानों पर श्वेताम्बरों पर कटाक्ष किये गये हैं और यह बतलाया

गया है कि उनके सिद्धांत दिगंबरों के सिद्धांतों से भिन्न हैं। दिगंबरों के शास्त्रों में श्वेताम्बरों का कई बार उल्लेख हुआ है परंतु श्वेताम्बरों के शास्त्रों में दिगंबरों का उल्लेख एक बार भी नहीं हुआ इस बात से सिद्ध होता है कि दिगंबर तथा उनके शास्त्र श्वेताम्बरों से पीछे के हैं।

(५) दिगंबर ग्रंथ-कर्ताओं ने अपने ग्रंथों में जो रचना-काल दिये हैं उनके देखने से भी मालूम होता है कि दिगंबरों के ग्रंथ अर्वाचीन हैं। इससे निस्संदेह सिद्ध हो जाता है कि दिगंबरों की उत्पत्ति महावीर के बाद बहुत पीछे हुई।

(६) दिगंबर मूर्तिपूजक हैं, परंतु महावीर ने मूर्ति पूजा का विधान नहीं किया। इसलिए दिगंबरों को जैन धर्म का सच्चा अनुयायी नहीं माना जा सकता। श्वेताम्बरों का वर्णन करते समय हम मूर्ति पूजा का सविस्तार विवेचन करेंगे।

अब हम जैन मूर्तियों के लेखों से यह सिद्ध करते हैं कि दिगंबर अर्वाचीन हैं।

उपलब्ध जैन मूर्तियों में से सब से प्राचीन मूर्तियाँ केवल १८०० वर्ष की पुरानी हैं और वे भी दिगंबर सम्प्रदाय से संबंध नहीं रखती यह जैनों के उवासगदसा नाम के सातवें अंग पर रूडाल्फ हार्नले साहेब ने लिखी हुई प्रस्तावना के निम्न लिखित अवतरण से स्पष्ट हो जाता है।

" मथुरा से कुछ लेख ऐसे मिले हैं जिन से इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलजाता है कि ईसवी सन की पहली सदी में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अस्तित्व था। ये लेख जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों के पदों पर मिले हैं और इनमें कनिष्क हुविष्क और वासुदेव नामक प्रसिद्ध राजाओं का सम्वत् दिया है। ये राजा सिथिया देश के थे, परन्तु भारतवर्ष पर भी राज्य करते थे। मालूम होता है कि इनका सम्वत् अब शक के नाम से प्रसिद्ध है, जो ईसवी सन ७८-७९ से शुरू होता है। इन लेखों में लिखा हुआ है कि ये मूर्तियाँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायियों की भक्ति का स्मारक हैं। इन मूर्तियों की स्थापना करने वाले दिगम्बर न थे किन्तु श्वेताम्बर थे, इस बात का पता यों लगता है कि मूर्तियों पर जो लेख हैं उनमें जैन साधुओं के कुछ गणों के नाम लिखे हैं और इन गणों के नाम श्वेताम्बरों के कल्प सूत्र की स्थविरावली में भी मिलते हैं। अतएव यह सिद्ध होता है कि ये मूर्तियाँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय की हैं। इस बात का हम एक उदाहरण देते हैं। इन मूर्तियों के लेखों में से एक लेख कनिष्क के राज्य काल के नवें वर्ष का (अर्थात् ईसवी सन् ८७-८८ का) है। उसमें लिखा है कि उस मूर्ति की स्थापना कोटिया (अथवा कोटिक गण) के नागनंदिन नामक धर्मगुरु के उपदेश से विकटा नामक एक जैन श्राविका ने की थी। इस गण की स्थापना स्थविरावली के अनुसार स्थविर सुस्थित

ने की थी जो ई. स पूर्व १५४ महावीर के ३१३ वर्ष पीछे मोक्षगामी हुवे। इस प्रकार परोक्ष रूप से मथुरा के लेख इस बात-की साक्षी देते हैं कि इसा से पूर्व दूसरी शताब्दी के मध्य में श्वेतांबर सम्प्रदाय का अस्तित्व था।

उपरोक्त प्रमाण से यह स्पष्ट है कि मथुरा में जो जैन मूर्तियां भूगर्भ से निकाली गई हैं वे दिगंबर सम्प्रदाय की नहीं किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय की हैं। इस बात का भी पता लग चुका है कि उन मूर्तियों को छोडकर जिनका पता पुरातत्त्वज्ञों ने लगाया है भारतवर्ष के जैन मंदिरों की असंख्य मूर्तियों में दिगंबर सम्प्रदाय की एक मूर्ति भी नहीं है जो मथुरा में मिली हुई मूर्तियों के बराबर प्राचीन हो। अतएव यह मानना गलत नहीं है कि इसवी सन् की पहली सदी में दिगंबरों का अस्तित्व न था और इसलिए यह स्पष्ट है कि वे अर्वाचीन हैं।

८ दिगंबर शास्त्रों में महावीर के प्रसिद्ध प्रतिद्वंदी मक्खली-पुत्र गोशाला का उल्लेख कहीं नहीं मिलता परन्तु जैन और बौद्ध सूत्रों में गोशाला के जीवन चरित्र और सिद्धान्तों का संपूर्ण वृतान्त दिया है। यह बात बडे महत्त्व की है और निश्चित रूप से सिद्ध कर देती है कि दिगंबर तथा उनके सूत्र अर्वाचीन हैं।

इस बातकी पुष्टि करने के लिये और दलीलें देना व्यर्थ है क्यों कि हम ऊपर काफी दलीलें दे चुके हैं जिनसे निर्पक्ष मनुष्य यह परिणाम निकाल सकते हैं कि दिगंबर और उनके शास्त्र निस्सदेह अर्वाचीन हैं और असली तथा मूल संघ से उनकी उत्पत्ति पीछे हुई है।

दिगंबरों की उत्पत्ति।

अब यह मालूम करना चाहिये कि दिगंबर कब और कैसे जुदा हुए। इस विषय में हमको धर्मसागर कृत प्रवचन-परिक्षा नामक ग्रंथ से सहायता मिलती है। इस ग्रंथ में दिगंबरों की उत्पत्ति इस प्रकार दी है:—

रथवीरपुर नामक नगर में शिवभूति उर्फ सहस्रमल्ल नामका एक मनुष्य रहता था। वह उस नगर के राजा का खास सेवक था। एक दिन राजा की माता ने उसपर बड़ा क्रोध किया इसलिये वह तुरत ही नौकरी छोड़कर जैन साधु बन गया। एक बार राजा ने उसको एक बहुमूल्य दुशाला दिया। इस दुशाले से उसको मोह होगया। उसके गुरु आर्यकृष्ण उसपर बड़े कुपित हुए क्यों कि सांसारिक पदार्थों से मोह रखना साधुओं के धर्म के विरूद्ध है और इसलिये उन्होंने उसे दुशाला त्याग देने की सम्मति दी, परन्तु उसने अपने गुरु की आज्ञा का पालन न किया। एक दिन जब शिवभूति कहीं गया हुआ था आर्यकृष्ण ने

उसके दुशाले को फाड़कर टुकड़े २ कर डाले। दुशाले को इस प्रकार नष्ट किये जाने पर शिवभूति को बड़ा क्रोध आया और वह तर्क करने लगा कि यदि वस्त्रों से मोह उत्पन्न हो जाता है तो उनको सर्वथा ही त्याग देना उचित है। इतना कहकर उसने नग्न रहने का व्रत धारण कर अपने गुरु को त्याग दिया व एक नवीन धर्म का प्रचार कर उसके सिद्धान्तों में नग्नता को प्रधानता दी। वह अपने आप को दिगंबर कहने लगा और उसी समय से दिगंबर सम्प्रदाय का संस्थापन होगया। उसकी भगिनी उसके धर्म की अनुयायी होगई और उससे नग्न रहने की आज्ञा मांगी। शिवभूति ने उसे ऐसा करने से रोका और यह उपदेश दिया कि स्त्रियां मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती। कहा जाता है कि यह घटना ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी के मध्य में हुई थी। इस प्रकार दिगम्बरों की उत्पत्ति की कथा है। परन्तु यदि इस कथा की सच्चाई पर संदेह भी किया जाय तो दिगंबरों के अर्वाचीन होने की जो दलीलें ऊपर दी गई हैं उनकी सत्यता पर किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता, क्यों कि वे ऐतिहासिक प्रमाणों पर अवलम्बित हैं।

जैनों का नाम श्वेतांबर कैसे पड़ गया।

जब शिवभूति ने नग्न रहने का व्रत धारण कर लिया और दिगंबर सम्प्रदाय की स्थापना की, तब यह स्वाभाविक

का निर्णय करेंगे कि श्वेताम्बरों का कौनसा संप्रदाय—मूर्तिपूजा न करने वाला या मूर्तिपूजा करने वाला—महावीर के असली उपदेशों का सच्चा अनुयायी है व मूर्तिपूजकों के इस कथन में कि मूर्ति पूजा न करने वाले (स्थानक वासी) जैन धर्म के सच्चे अनुयायी नहीं है और इसलिए वे अर्वाचीन हैं कुछ सार है या नहीं।

जैन धर्म के कुछ सिद्धांतों की निर्पेक्ष और गहरी छानबीन करने से ही यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण और पेचीदी समस्या हल की जा सकती है।

सबसे पहला प्रश्न मूर्तिपूजा का है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजकों का यह कथन है कि तीर्थंकरों ने मुक्ति प्राप्त करने के लिए मूर्ति पूजा का विधान किया है, परन्तु मूर्तिपूजा न करने वाले इसका विरोध करते हैं।

मूर्तिपूजा के प्रश्न पर कई सदियों से लगातार वादविवाद हुआ है और निर्पेक्ष और परमेश्वर से डरने वाले मनुष्यों को यह दिखाई देगा कि यह प्रश्न सदा के लिए सतोष जनक हल हो चुका है।

जैन धर्म में मूर्ति पूजा का विधान नहीं है।

समस्त जैन शास्त्रों में तीर्थंकरोंने मूर्तिपूजा का विधान कहीं नहीं किया। विधान ही क्या, उन्होंने इस बात का

किंचित इशारा भी नहीं किया। हम इस अपने मत का समर्थन करने के लिए आगे चलकर कई दृष्टियों से इस प्रश्न पर प्रकाश डालते हैं'—

१ उपासकदशाग और आचाराग नामके दो जैन सूत्र इस विषय पर बहुत प्रकाश डालते हैं और इस लिये इन ग्रथों की छानबीन करेंगे।

उपासकदशाग में महावीर के मुख्य दस श्रावकों के सविस्तार जीवन चरित्र दिये हैं और उसमें जैन श्रावकों के आचार व्यवहार के नियम और व्रत ठीक उसी प्रकार समझाये गये हैं जिस प्रकार आचाराग में जैन साधुओं के लिए नियम और व्रत दिये हैं।

श्रावक और साधुओं को आचार के नियमों को ठीक ठीक समझने के लिए खासकर इन्हीं दो ग्रथों का आश्रय लेना पडता है। इन दो प्रामाणिक अगों में व अन्य शास्त्रों में भी मूर्तिपूजा का जिसे मूर्तिपूजक मुक्ति प्राप्त करने का एक मात्र साधन बताते हैं, तनिक भी उल्लेख नहीं है। यदि महावीर मूर्तिपूजा को जैन धर्म का आवश्यक अग समझते तो वे साधुओं और श्रावकों के व्रतों में मूर्तिपूजा का समावेश करने से कदापि न- ।

यह बात याद रखने के योग्य है और महावीर के समय में मूर्ति-पूजा के अभाव को अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध करती है। यदि उस समय जैन मंदिर होते, तो महावीर उनमें ही ठहरना अधिक अच्छा समझते। वे यक्षों के मंदिरों में अथवा यों कहना चाहिये कि उन उपवनों में, जिनका नाम यक्षों के नाम पर रक्खा गया था, कभी न ठहरते।

(८) जिस प्रकार उपासकदशाग में महावीर ने श्रावकों के लिये नियम बतलाये हैं उसी प्रकार उन्होंने, आचाराङ्ग में साधुओं के वास्ते नियम दिये हैं। इस पिछले ग्रंथ में उन्होंने यह बतलाया है कि साधुओं अथवा साध्वियों को कितने वस्त्र रखना चाहिये, उनकी लम्बाई चौडाई कितनी हो, उनका रंग कैसा हो और वे किस प्रकार के हों। उन्होंने यह भी लिखा है कि साधुओं को कितने और किस प्रकार के पात्र रखने चाहिए। इसके सिवाय उन्होंने, बड़े विस्तार के साथ चलने, बैठने, बोलने, खाने, पीने इत्यादि के नियम दिये हैं। साधुओं को धर्म सबंधी जितने कार्य करने चाहिये उनमें से प्रत्येक को उन्होंने बहुत अच्छी तरह समझा दिया है। साराश यह है कि उन्होंने इस विषय का ऐसा विस्तार पूर्वक विवेचन किया है कि आचाराङ्ग साधुओं के लिए एक समय-विभाजक-चक्र बन गया है, परन्तु उनके नित्यप्रति के धर्म सबधी कार्यों मे मूर्तियों को व मंदिरों को स्थान नहीं दिया गया।

तीर्थंकरों ने साधुओं और श्रावकों के विषय मे इतना विस्तारपूर्वक विवेचन किया है, परन्तु उन्होंने मदिरों और मूर्तिपूजा के विषय में कुछ नहीं कहा—यह बात ध्यान देने योग्य है और बड़े महत्त्व की है।

(९) बहुत से अन्य शास्त्रों मे भी साधुओं और श्रावकों के लिए आचार सबधी नियम लिखे हैं, परन्तु उनमें मूर्तिपूजा का विधान कहीं नहीं मिलता। यदि मूर्ति-पूजकों के कथनानुसार मूर्तियों और मदिरों के बनवाने से मुक्ति मिलती होती, तो सर्वज्ञ महावीर, सूत्रों में इस महत्त्वपूर्ण विषय का समावेश बिना किये कभी नहीं रहते।

(१०) यदि तीर्थंकरों ने मूर्ति पूजा करने और मंदिर बनवाने का विधान किया होता, तो वे यह बताना न भूलते कि मूर्ति किस आसन में होनी चाहिए, किस पदार्थ की बननी चाहिए, उसकी प्रतिष्ठा और पूजन के समय किन मत्रों का उच्चारण करना चाहिए, आभूषण किस प्रकार के होने चाहिए, पूजन किस प्रकार होना चाहिए, उसमें किस सामग्री का प्रयोग करना चाहिए और मूर्तियों से सबध रखने वाले अन्य कार्य कैसे होने चाहिए।

(११) यह बात प्रसिद्ध है कि महावीर, गौतम बुद्ध के समकालीन थे और इसलिए बौद्ध सूत्र महावीर के बतलाये

हुए जैन सिद्धान्तों मे और जैन साधुओं और श्रावकों के आचारों के हवालों से भरे पडे हैं। परन्तु बौद्ध शास्त्रों में यह कहीं नहीं लिखा कि जैनधर्म के सिद्धान्तों में मूर्ति पूजा का भी विधान है। यदि महावीर ने मूर्ति-पूजा का उपदेश किया होता तो बौद्ध जैनों पर तीव्र कटाक्ष करने से और उनका उपहास करने से कभी न चूकते, क्यों कि मूर्ति-पूजा का प्रचार, जो बौद्धों के केवल एक सम्प्रदाय मे अभी पाया जाता है, गौतम बुद्ध के निर्वाण के बहुत समय बाद हुआ है।

(१२) बौद्ध सूत्रों में उन जैन सिद्धान्तों पर जो बौद्ध सिद्धान्तों से भिन्न हैं, तीव्र कटाक्ष किया गया है और उनको गलत समझाया गया है। इसलिए यदि जैनधर्म में मूर्ति-पूजा का विधान होता तो हम को बौद्ध सूत्रों में अवश्य ही इस सिद्धान्त की कडी समालोचना मिलती।

चूंकि बौद्ध ग्रथों में मूर्ति-पूजा पर कोई कटाक्ष अथवा नाम मात्र के लिए भी कोई हवाला नहीं मिलता, इसलिए हम केवल एक ही नतीजे पर पहुच सकते हैं और वह यह है कि महावीर के समय में जैनों में मूर्ति-पूजा न थी और महावीर ने न कभी इस विषय का उपदेश दिया।

(१३) पुरातत्व की खोज करते समय भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रदेशों में कई जैन मूर्तिया, भूगर्भ से निकाली गई

हैं, परन्तु अभीतक एक भी मूर्ति ऐसी नहीं मिली जिसके लेख से यह सूचित होता हो कि वह महावीर अथवा उनके पूर्ववर्ती अन्य तीर्थंकरों के समय की हो। सबसे प्राचीन मूर्तियाँ, जो डॉक्टर फूहरर को मथुरा में मिली हैं केवल १८०० वर्ष की पुरानी हैं।

(१४) मूर्तिपूजकों का मत है कि पालीताना, गिरनार आबू, तारंगा, शत्रुंजय और अन्य पर्वतों पर जो मंदिर और मूर्तियां हैं वे बहुत प्राचीन हैं और इसलिए वे कहते हैं कि मूर्तिपूजा का प्रचार तीर्थंकरों ने किया है। परन्तु पुरातत्वज्ञों ने इन मूर्तियों और मंदिरों के समस्त लेखों की देख भाल की है और उन्होंने यह निर्णय किया है कि ये अर्वाचीन हैं, इनकी स्थापना महावीर के बाद कई सदियाँ बीत जाने पर हुई है और ये मथुरा में मिली हुई मूर्तियों के बरोबर भी प्राचीन नहीं है। हम ऊपर बतलाही चुके हैं कि मथुरा की मूर्तियाँ भी डॉक्टर फूहरर के कथनानुसार १८०० वर्ष की प्राचीन हैं।

(१५) उन मूर्तियों के अतिरिक्त, जो पुरातत्वज्ञों ने खोदकर निकाली हैं, भारतवर्ष में हजारों जैन मंदिर हैं और लाखों मूर्तियाँ हैं, परन्तु उन में एक मूर्ति भी ऐसी नहीं है जिसके लेख और संवत यह सूचित करते हों कि वह महावीर पार्श्वनाथ अथवा अन्य किसी पूर्ववर्ती तीर्थंकर के समय की हो।

यह बात बडी विचित्र और महत्वपूर्ण है। इससे सिद्ध होता है कि मूर्तिपूजा की प्राचीनता के पक्ष में मूर्ति पूजकोंकी दलील बहुत कमजोर है। यदि मूर्तिपूजा वास्तव में इतनी प्राचीन होती जितना कि मूर्तिपूजक बतलाते हैं, तो हम को अवश्यमेव कुछ मूर्तियाँ भी ऐसी मिलती जिनके सवत और लेख मूर्तिपूजकों के पक्ष की पुष्टि करते।

यदि हम इस प्रश्न पर दूसरी दृष्टि से विचार करें, तो माल्म होगा कि तीर्थंकरों के सिद्धान्त और जीवन ऐसे स्वाभाविक हैं और जैनधर्म के उपदेश ऐसे उदार हैं कि इस बात की तनिक भी संभवना नहीं की जा सकती कि तीर्थंकरों ने पत्थर और धातुओं की मूर्तियों को पूजने का आदेश दिया हो अथवा मूर्तिपूजा का किसी और प्रकार से उपदेश किया हो।

तीर्थंकरों ने मोक्ष-मार्ग बतलाते हुए श्रीमतों को तथा कगालों को, बडों को तथा छोटों को अपने शिष्यों को तथा विद्यार्थियों को अर्थात् जातिपाँति का भेदभाव छोडकर सब को यह समान उपदेश दिया है कि प्रत्येक जीव को अपने कर्मों का नाश (निर्जरा करने ही से मुक्ति मिल सकती है और कर्मों का नाश--इन्द्रिय दमन, स्वार्थत्याग, अमित दया, आत्मनिरोध, घोर तप और अपरिग्रह के द्वारा हो सकता है। उन्होंने स्पष्ट रीति से इस सत्य का उपदेश दिया है कि मनुष्य

अपने भाग्य का विधाता स्वय ही है, उसका भविष्य सर्वथा उसी के कर्मों पर, अवलम्बित है और अनंत शान्ति तथा सुख प्राप्त करने के लिए देवताओं अथवा देवियों का पूजन आवश्यक नहीं है।

तीर्थंकरों ने इन सिद्धान्तों का केवल उपदेश देकर ही सन्तोष न किया, किन्तु उन्होंने अपना जीवन भी अपने बतलाए हुए आदर्श के अनुसार बना लिया और वे दूसरों को जिन श्रेष्ठ उपदेशों का अनुगामी बनाना चाहते थे उन्हीं आदर्श उपदेशों के उदाहरण उन्होंने स्वयं अपने जीवन में दिखाये। सभी श्रेष्ठ और दैवी गुण तीर्थंकरों के जीवनों में गर्भित हैं और इन सद्गुणों की प्राप्ति को प्रत्येक जैन धर्मानुयायी को अपना सौभाग्य समझना चाहिये। इसलिये जैनधर्म के असली भाव समझने के लिए व आतंरिक मर्म से तादात्म्य होने के वास्ते यह आवश्यक है कि जैन शास्त्रों के अर्थ इन पवित्र तीर्थंकरों के जीवनों की घटनाओं की सहायता से लगाये जायें, और जब इस प्रकार अर्थ लगाया जायगा तब मालूम होगा कि जैन तीर्थंकरों के जीवन-चरित्र में मूर्तिपूजा का लेश भी नहीं है।

उन्होंने मुक्ति प्राप्ति के लिए मूर्तिपूजा का कष्टरहित मार्ग ग्रहण नहीं किया। उन्होंने निर्वाण पद पाने के लिए पाषाण की मूर्तियों के सामने चक्कर में डाल देने वाली

पूजन विधियों का अनुसरण नहीं किया । उन्होंने कर्म के बधन से छुटकारा पाने के लिए मूर्तियों की पूजा करने का अथवा उन पर द्रव्य चढाने की कभी चेष्टा न की । वे जानते थे कि मूर्तिपूजा करना एक प्रकार से रिशवत (घूस) देना है । घोर तपस्या, अपरिगृह, स्वार्थत्याग, और कष्टसाधना के द्वारा ही उन्होंने अपने कर्मों के बधन को तोडा और मुक्ति पद को प्राप्त किया, क्यों कि वे इस बात को भली भाति जानते थे कि तीर्थंकर न तो किसी दूसरे को कर्म बधन मे मुक्त कर सकते हैं और न वे प्रकृति के कार्यकारण नामक छः नियम के विरुद्ध चल सकते हैं ।

तीर्थंकर अपने विश्वव्यापी प्रेम के कारण, अपने अद्वितीय स्वार्थत्याग के कारण, अपनी अखूट दया के कारण व विशेषतः मानव जाति पर की हुई अमूल्य सेवाओं के कारण भावी प्रजा की ओर से अमित आदर व प्रतिष्ठा के योग्य हैं । परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी याद रखना चाहिए कि उनकी सब से बडी महत्ता इस कारण है कि व आत्मनिरोध करते थे, अत्यत दीन भाव से रहते थे और अपन आपको बिलकुल भूल गये थे । यदि उनमें ये दैवी गुण न होते, तो वे करोडो मनुष्यों के हृदय पर अधिकार जमाने मे सर्वथा असमर्थ और अयोग्य होते । वे दूसरों को देते थे, परन्तु उनसे कुछ लेने का ख्याल भी अपने जी में न लाते थे ।

उन्होंने कभी अपनी प्रतिष्ठा-पूजा का ख्याल न किया, किन्तु वे प्राणी मात्र को प्रेम करने में अपने आप को भी भूल गये और उन्होंने अपने महत्त्वाकांक्षा रहित जीवन को, पतित मनुष्य जाति के उद्धार में लगा दिया।

एक ओर तो इन बातों को स्वीकार करना और उनकी सराहना करना और दूसरी ओर यह कहना कि तीर्थंकरों ने मूर्तियों के रूप में अपनी पूजा कराई और इसी पूजा के अनुपम सौंदर्य को मोक्ष-प्राप्ति का साधन बतलाया, उनके असाधारण और निःस्वार्थ जीवन और उनके उपदेश किये हुए पवित्र और स्वार्थ रहित सिद्धान्तों को कलंकित करना है। ये दोनों बातें इतनी असंगत हैं कि इसका एक दूसरे से मेल बैठना मानव बुद्धि-सामर्थ्य के परे है।

यदि कोई अपने विचारों से पक्षपात निकाल कर, अपने हृदय से धार्मिक ईर्षा को दूर करके और एक मात्र सत्य की खोज करने की इच्छा से इन दैवी आत्माओं के पवित्र जीवन पर क्षणभर शांत चित्त से विचार करे तो मूर्ति-पूजा के विषय में उनका भ्रम अवश्य दूर हो जायगा और सत्य का संपूर्ण प्रकाश हो उठेगा, जिसमे भ्रम में पडे हुए मूर्ति-पूजकों का मूर्ति-पूजा मडन का दीर्घ कालिक सिद्धान्त एक क्षण भी नहीं ठहर सकेगा।

मूर्तिपूजा के विरुद्ध जैन सूत्रों से और भी बहुत से प्रमाण दिये जा सकते हैं, परन्तु यहा पर उनका उल्लेख

पूजन विधियों का अनुसरण नहीं किया । उन्होंने कर्म के बधन से छुटकारा पाने के लिए मूर्तियों की पूजा करने का अथवा उन पर द्रव्य चढाने की कभी चेष्टा न की । वे जानते थे कि मूर्तिपूजा करना एक प्रकार से रिशवत-(घूस) देना है । घोर तपस्या, अपरिगृह, स्वार्थत्याग, और कष्टसाधना के द्वारा ही उन्होंने अपने कर्मों के बधन को तोडा और मुक्ति पद को प्राप्त किया, क्यो कि वे इस बात को भली भाति जानते थे कि तीर्थंकर न तो किसी दूसरे को कर्म बधन से मुक्त कर सकते हैं और न वे प्रकृति के कार्यकारण नामक छः नियम के विरुद्ध चल सकते हैं ।

तीर्थंकर अपने विश्वव्यापी प्रेम के कारण, अपने अद्वितीय स्वार्थत्याग के कारण, अपनी अखूट दया के कारण व विशषत. मानव जाति पर की हुई अमूल्य सेवाओं के कारण भावी प्रजा की ओर से अमित आदर व प्रतिष्ठा के योग्य हैं । परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी याद रखना चाहिए कि उनकी सब से बडी महत्ता इस कारण है कि वे आत्मनिरोध करते थे, अत्यत दीन भाव से रहते थे और अपने आपको बिलकुल भूल गये थे । यदि उनमे ये दैवी गुण न होते, तो वे करोडो मनुष्यों के हृदय पर अधिकार जमाने में सर्वथा असमर्थ और अयोग्य होते । वे दूसरों को देते थे, परन्तु उनसे कुछ लेने का ख्याल भी अपने जी में न लाते थे ।

उन्होंने कभी अपनी प्रतिष्ठा-पूजा का ख्याल न किया, किन्तु वे प्राणी मात्र को प्रेम करने में अपने आप को भी भूल गये और उन्होंने अपने महत्त्वाकांक्षा रहित जीवन को, पतित मनुष्य जाति के उद्धार में लगा दिया।

एक ओर तो इन बातों को स्वीकार करना और उनकी सराहना करना और दूसरी ओर यह कहना कि तीर्थंकरों ने मूर्तियों के रूप में अपनी पूजा कराई और इसी पूजा के अनुपम सौंदर्य को मोक्ष-प्राप्ति का साधन बतलाया, उनके असाधारण और निःस्वार्थ जीवन और उनके उपदेश किये हुए पवित्र और स्वार्थ रहित सिद्धान्तों को कलंकित करना है। ये दोनों बातें इतनी असंगत हैं कि इसका एक दूसरे से मेल बैठना मानव बुद्धि-सामर्थ्य के परे है।

यदि कोई अपने विचारों से पक्षपात निकाल कर, अपने हृदय से धार्मिक ईर्षा को दूर करके और एक मात्र सत्य की खोज करने की इच्छा से इन दैवी आत्माओं के पवित्र जीवन पर क्षणभर शांत चित्त से विचार करे तो मूर्ति-पूजा के विषय में उसका भ्रम अवश्य दूर हो जायगा और सत्य का संपूर्ण प्रकाश हो उठेगा, जिससे भ्रम में पड़े हुए मूर्ति-पूजकों का मूर्ति-पूजा मंडन का दीर्घ-कालिक सिद्धान्त एक क्षण भी नहीं ठहर सकेगा।

मूर्तिपूजा के विरुद्ध जैन सूत्रों से और भी बहुत से प्रमाण दिये जा सकते हैं, परन्तु यहां पर उनका उल्लेख

करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम अब तक जितने प्रमाण दे चुके हैं वे स्वयं ऐसे दृढ हैं कि निर्पक्ष मनुष्य को इस बात में अब कुछ भी संदेह नहीं रहेगा कि जैन सूत्रों मे मूर्तिपूजा का सर्वथा अभाव है ।

महावीर के निर्वाण के सातसौ वर्ष बाद मूर्तिपूजा का प्रचार हुआ ।

अब यह प्रश्न स्वाभाविक ही पैदा होता है कि यदि मूर्तिपूजा का प्रचार महावीर नें नहीं किया, तो उसका प्रचार किस तरह हुआ और कब हुआ ? परन्तु इस प्रश्न पर विचार करने का यह स्थान नहीं है । यहा पर इतना ही कह देना पर्याप्त है कि मूर्तियों के सबसे प्राचीन लेखों और उन के संवतों से हम को मालूम होता है कि मूर्तिपूजा का प्रचार आज से १८०० वर्ष पहले या यों कहिए कि महावीर के निर्वाण के ६०० या ७०० वर्ष बाद हुआ है।

मूर्तिपूजकों को श्वेताम्बर कहना अनुपयुक्त है ।

अब हम को यह देखना चाहिये कि श्वेताम्बरों का मूर्ति पूजक सम्प्रदाय वस्त्रों के रग के विषय में महावीर के आदेशों के अनुसार चलता है या नहीं । क्यो कि इन्हीं वस्त्रों के कारण जैन साधुओं को अन्य धर्मावलवी साधुओं से पहिचाना जा सकता है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्याय में हम देख चुके हैं कि केसी और गौतम ने पार्श्वनाथ और महावीर के शासनों का एकीकरण किस तरह किया और पार्श्वनाथ के अनुयायियों ने किस प्रकार रंगीन वस्त्र त्याग कर महावीर के नियमों के अनुसार श्वेत वस्त्रों को धारण कर लिया।

यद्यपि मूर्तिपूजक सम्प्रदाय अपने आप को "श्वेताम्बर" कहलाता है (श्वेत वस्त्र धारण करने वाला) तो भी यतियों को छोड कर इस संप्रदाय के साधु श्वेत वस्त्र धारण नहीं करते, जैसी कि हम उनमे आशा कर सकते थे। इससे यह स्पष्ट है कि इस सम्प्रदाय ने जैन साधुओं के वस्त्रों के विषय में महावीर के आदेशों का सर्वथा अनुकरण नहीं किया।

आदर्श जैन साधु के जीवन की संक्षिप्त व्याख्या।

यह बतलाने के लिए कि महावीर के असली उपदेशों और सिद्धान्तों से यह सम्प्रदाय किस तरह विमुख होगया हम अब महावीर के आदेशो के अनुसार जैन साधु के जीवन की व्याख्या करेंगे और फिर तुलना करके यह बतलायेंगे कि मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय के जैन साधु का जीवन असली ऊँचे आदर्श से किस किस बातों में गिर गया है।

जैन साधु को घर घर गोचरी-भिक्षा करके अपना भोजन प्राप्त करना चाहिये। उसे न तो स्वय भोजन

बनाना चाहिये और न किसी दूसरे से भोजन बना देने के लिए कहना चाहिए। उसे गोचरी के लिए किसी का आमंत्रण स्वीकार न करना चाहिए, किन्तु पहले से किसी प्रकार की सूचना दिये बिना ही उसे गोचरी के लिए जाना चाहिये। उसको न तो सवारी में बैठ कर जाना चाहिए और न स्वय किसी सवारी को चलाना चाहिये, बल्कि उसको सदा पैदल चलना चाहिये और अपनी निगाह नीचे जमीन पर रखनी चाहिए जिससे कि उसके पैरों के नीचे कोई जीव जन्तु न कुचल जाय। उसको केवल वर्षा ऋतु में एक स्थान पर चार मास तक ठहरना चाहिये और शेष ऋतुओं में एक स्थान पर एक मास से अधिक न ठहरना चाहिए। उसको स्वय अपने हाथों से केश-लुंचन करना चाहिये और किसी नाई से हजामत न बनवानी चाहिये। उसको जैन शास्त्रों में कहे हुए बाईस परिषहों को शान्ति और सतोष पूर्वक सहन करना चाहिये और अखड ब्रह्मचारी रहना चाहिए। उसको अपने पास न तो द्रव्य (रुपया-पैसा आदि) रखना चाहिये और न ऐसी चीजें रखना चाहिये जैसे मकान, जमीन इत्यादि और उसे अपना समस्त समय धार्मिक कार्यों में लगाना चाहिए। साराश यह है कि उसे प्रत्येक प्रकार के परिग्रह से दूर रहना चाहिए और शास्त्रों में कहे हुए साधुओं के पच महाव्रतों के पालन में अपना समय लगाना चाहिए। ये जैन साधु के जीवन की खास २ बातें हैं। अब हम इस जीवन से मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय के साधुओं के जीवन का मिलान करेंगे।

मूर्तिपूजक श्वेताम्बर संप्रदाय के साधु के जीवन का मिलान।

मूर्ति-पूजक श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साधुओं के तीन विभाग हैं—(१) यति, (२) श्रीपूज्यजी, और (३) संवेगी। न तो ये विभाग जैन सूत्रों में बतलाये गये हैं और न संवेगी और श्रीपूज्य ये शब्द जैन अथवा बौद्ध सूत्रों में कहीं आये हैं। अतएव इनको अर्वाचीन ही मानना होगा। वैसे ही जब कि इस सम्प्रदाय में साधुओं के तीन विभाग हैं तो इन तीनों विभागों के लिए आचार के भिन्न भिन्न नियमों का होना आपही से सिद्ध होता है।

मूर्ति-पूजक अपने साधुओं की सबसे अधिक प्रतिष्ठा करते हैं। इन संवेगियों के आचार की परीक्षा करने से मालूम होगा कि महावीर के बताये हुए नियमों से ये बहुत पतित हो गये हैं। इन्होंने अपने वस्त्रों में बड़ा परिवर्तन कर डाला है। ये जैन धर्म के नियमों के विरुद्ध पीले वस्त्र धारण करते हैं और इसी प्रकार अन्य पदार्थों का उपयोग करते हैं। इनमें से कुछ रुपये-पैसे का लेन-देन भी करते हैं। यह बात अन्य दो विभागों के विषय में भी ठीक है। यतियों और श्रीपूज्यों के पास बड़ी बड़ी मिलकियतें हैं और वे सब प्रकार के धंदे करते हैं। यह बात महावीर के स्पष्ट आदेश से सर्वथा विरुद्ध है, क्यों कि उनका यह उपदेश है कि किसी जैन साधु

को तनिक भी परिग्रह रखना नहीं चाहिए। कदाचित् इन साधुओं में कुछ ऐसे भी होंगे कि जिनके जीवन ऐसे पवित्र हों कि वे समस्त जैनों की प्रतिष्ठा के पात्र बन सकें, परन्तु इस बात से हमारे इस मत का तनिक भी खंडन नहीं होता कि इन में का अधिकांश भाग उस आदर्श पर जो कि महावीर ने जैन साधुओं के जीवन के लिए निर्धारित किया था जमा हुआ नहीं है।

स्थानकवासी जैन साधुओं के जीवन की परीक्षा।

यदि हम स्थानकवासी अर्थात् मूर्ति-पूजा न करने वाले सम्प्रदाय के साधुओं के आचार की परीक्षा करें, तो हमको मालूम होगा कि वे न तो अपने पास द्रव्य रखते हैं, न सवारी में बैठ कर फिरते हैं, न मिलकियत रखते हैं, न गोचरी के लिये आमन्त्रण स्वीकार करते हैं, न नियमों के विरुद्ध एक ही स्थान पर बहुत दिनों तक ठहरते हैं, न यात्राएँ करते हैं, न मूर्ति पूजा करते हैं, न रंगीन वस्त्र धारण करते हैं और न अपना समय संसार के झझटों में लगाते हैं। सारांश यह है कि वे शास्त्र-वर्जित सभी बातों से अलग रहते हैं और यथाशक्ति उस आदर्श जीवन का अनुसरण करते हैं जो महावीर ने साधुओं के लिये बतलाया है।

ऊपर कही हुई बातों से प्रत्येक समझदार मनुष्य को विश्वास हो जायगा कि मूर्ति पूजक सम्प्रदाय के साधुओं का

जीवन शास्त्र-विहित नियमों के अनुकूल नहीं है, अतएव ऐसे साधुओं के श्रावकों से शास्त्र-विहीत नियमों के अनुसार चलने की और भी कम आशा की जा सकती है।

जो साधु परिग्रह रखते हैं, सूत्रों के नियमों के अनुकूल नहीं चलते और ससार के सुखों की खोज में रहते हैं, उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे अपने अनुयायियों को सत्य की शिक्षा दें और इसीलिए वे अपने शिष्यों के चरित्र को उत्तमतर बनाने के अयोग्य हैं। वे जैन धर्म के सच्चे सिद्धान्तो का प्रचार करने से डरते हैं, क्यों कि वे जानते है कि उनके आचरण में और उनके उपदेशित सिद्धान्तों मे जो बहुत बडा भेद दिखलाई देगा उसके कारण उनके प्रति उनके अनुयायियों की श्रद्धा कम हो जायगी व सघ उनको बहिष्कृत कर देगा। इसका फल यह हुआ कि मूर्ति पूजक सम्प्रदाय के साधु और उनके श्रावक दोनों ही जैन धर्म के असली सिद्धान्तों से पराङ्मुख होगये।

उपसंहार।

ऐसी अवस्था में मूर्ति पूजक सम्प्रदाय न्याय पूर्वक इस बात का दावा नहीं कर सकते कि वे महावीर के असली और सच्चे अनुयायी हैं। इसलिये यही मानना होगा कि वे मूल संघ से अलग होगये हैं और उन्होंने अपना एक पृथक सम्प्रदाय बना लिया है

हमने ऊपर जो तुलना की है उसमें मूर्तिपूजक संप्रदाय के साधुओं के जीवन चरित्र में जो भिन्नताएँ प्रकट रूप में दिखाई देती हैं उनका दिग्दर्शन मात्र है। यदि हम जैन सूत्रों के अनुसार उनकी अच्छी तरह परिक्षा करें तो हमारे इस मत का और भी समर्थन होगा कि वे किसी भी तरह महावीर के असली और सच्चे अनुयायी नहीं कहे जा सकते।

यह सिद्ध करके कि दिगवर तथा मूर्ति पूजक श्वेताम्बर महावीर के असली अनुयायी नहीं है, अव हम मूर्ति पूजा न करने वाले सम्प्रदाय का, जो कि जन साधारण में स्थानकवासी के नाम से प्रसिद्ध है, और महावीर का असली व सच्चा अनुयायी है, कुछ वर्णन करेंगे। यही सम्प्रदाय महावीर का असली और सचा अनुयायी है।

मूर्ति पूजा के हानिकारक फल।

इसके लिए यह आवश्यक है कि हम भूत काल पर दृष्टिपात करें। हम ऊपर यह सिद्ध कर आये हैं कि मूर्ति पूजा का प्रचार महावीर के वहुत बाद हुआ है और मूर्ति पूजा के साथ ही उससे उत्पन्न होने वाली अनेक बुराइया भी आई। धार्मिक सिद्धान्तों पर जिन साधुओं को संदेह था उन्होंने अपनी स्वार्थ वृत्ति को पुष्ट करने के लिए मूर्ति पूजा का प्रचार किया। स्वार्थ-साधन के लिए उनको द्रव्य की

आवश्यकता हुई, परन्तु दूसरों से द्रव्य मागने का व उसे प्रकट रूप में अपने पास रखने का जब वे साहस न कर सके तब उन्होंने मूर्ति पूजा की नई तरकीब निकाली और अपने अनुयायियों को मूर्तियों के पूजन और दूसरे खर्च के लिए द्रव्य दान करने का उपदेश दिया। जैसी कि आशा की जा सकती थी मूर्ति पूजा उनको लाभप्रद हुई और वे साधु धीरप और चतुराई से इस खजाने का दुरूपयोग करने लग गये। ज्यों ज्यों समय बीता वे इन्द्रियों के क्षणिक सुख में लिप्त होते गये और विषय वासनाओं के दास बन गये। जब उनके धार्मिक भावों का लोप हो गया तब वे दाम्भिक हो गये। सच्चे साधुओं का मार्ग तलवार की धारा के समान तेज-कठिन होता है किन्तु जब वे इस मार्ग पर न चल सके, तब अपने स्वार्थ साधन के निमित्त व अपने पतित आचरणके अनुकुल हो इस प्रकार शास्त्रों का विपरीत अर्थ करने लगे। जब वे धार्मिक तत्त्वों के असली अभिप्राय को समझने की शक्ति को खो बैठे, तब उन्होंने लौकिक बातों को आध्यात्मिक में, नाश को प्राप्त होने वाले पदार्थों को स्थायी में और असत्य को सत्य में उलझा दिया।

अहंकार के आजाने से सत्य का लोप हो गया और जब साधु धार्मिक सिद्धान्तों को उलटी दृष्टि से देखने लगे

तब वे अर्थ का अनर्थ करके अपना मतलव गाठने लगे। इस स्वार्थ-साधन के कारण कई बुराइया उत्पन्न हो गई। इस प्रकार जब वे संसार के झगडों में बुरी तरह उलझ गये, अपने अनुयायियों की सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति करने के अयोग्य हो गये, व अपना स्वार्थ साधन करने के लिये कल्पित सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने लगे।

मनुष्य प्राणी स्वाभाविकतया मौज शौक़ और ऐश आराम को पसद करता है। इन्ही स्वाभाविक मानसिक वृत्तियों का लाभ लेकर इन स्वार्थी और पतित साधुओं ने मूर्तिपूजा की अनेक मनमानी रीतिया निर्माण कीं और शास्त्रों के आदेशों की ओर से मुँह मोड लिया। उन्होंने मुक्ति-प्राप्ति का भाव सस्ता कर दिया। इस प्रकार असली वातों के स्थान में बनावटी बातों का प्रचार करके उन्होंने धर्मका रूप बिलकुलही बदल दिया और उसे एक बिलकुल नया और विचित्र रूप दे दिया।

उपरोक्त कथन की सत्यता की जाच करने के लिये अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजकों के मदिरों में जो धार्मिक क्रियाएँ प्रचलित हैं उनसे हमारे कथन की सत्यता माल्रुम हो सकती है। इन निरर्थक क्रियाओंका जैन शास्त्रों में कहीं भी उल्लेख न होनेका कारण यही है कि मोक्ष प्राप्ति के लिये जिस

स्वार्थ-त्याग व मानसिक पवित्रता की आवश्यकता होती है वह इससे मिल नहीं सकती।

मूर्तिपूजा की विचित्रता।

यद्यपि मूर्तिपूजा जैनधर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध है तो भी इस अशुद्ध पूजन में भी मूर्तिपूजकों की मूर्ति सम्बंधी कृति बिल्कुल ही असगत है। वे तीर्थंकरों पर रागद्वेषादि मानसिक वृत्तियों और दोषों को आरोपित करते हैं परंतु तीर्थंकर मसार के समस्त झझटों से परे थे। तीर्थंकरों को सर्वोच्च आदर्श मान कर उनका अनुकरण करने की जगह वे उनको अपने कर्मों का न्यायकर्ता समझते हैं। वे, त्यागी तीर्थंकर और अन्य मतावलम्बियों के देवताओं में जो कि उनके भक्तों की पूजा व खुशामद से प्रसन्न होकर भक्तों की भक्ती के प्रमाण से अनुग्रह करते हैं, कुछ भी भेद नहीं समझ सकते।

एक पुत्र प्राप्ति के लिए मूर्ति को प्रणाम करता है तो दूसरा धन के लिए व तीसरा अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये। इस प्रकार हर एक अपने स्वार्थवश मूर्ति की पूजा करता है। हमारे देखने मे कई बार आता है कि कई लोग तीर्थंकरों की अपने सासारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए मानताएँ करते है और उनके नाम पर जहा तक उनकी इच्छा पूरी न हो जाय वहा तक किसी न किसी

वस्तु को खाने का त्याग कर देते हैं। वैसे ही अपने भले या बुरे कामों में सफलता को पाने के लिए कई लोग मूर्तियों को छत्र, चंवर, अंगी, केशर अथवा अन्य पदार्थ चढाने का वचन देते हैं। जो लोग तीर्थंकरों को इस प्रकार के पदार्थ और अन्य कीमती वस्तुएँ भेंट करने का गलत और धोका देने वाले ख्याल से वचन देते हैं उनकी यह समझ है कि तीर्थंकर, जो आकांक्षा, लोभ और संसार की अन्य तुच्छ बातों से अलग हैं, अचल न्याय के प्रवाह को बदल कर उनके कर्मों का ख्याल न कर उनकी इच्छानुसार न्याय देंगे।

भ्रम में पडे हुए इन बेचारे अनुयायियों पर बडा तरस आता है! महावीर द्वारा उपदेशित ऊंचे और श्रेष्ठ सिद्धान्तों को वे न समझ सके और इसी कारण वे ऐसी स्वार्थ से भरी हुई इच्छायें किया करते हैं जो कि उनको उत्तम तत्त्वों की प्राप्ति से वंचित रखती हैं।

हम ऊपर जो कुछ कह चुके हैं उसकी सत्यता में संदेह करने की आवश्यकता नहीं है। क्या यह कोई बतला सकेगा कि मूर्तिपूजकों में से कितने मनुष्य ऐसे हैं जो केवल आत्मिक उन्नति करने के लिये और मुक्ति प्राप्त करने के हेतु ही यात्राएँ करते हैं, मूर्तियों के सामने धनधान्यादि चढाते हैं और लंबी चौडी पूजाएँ करते हैं? यदि प्रत्येक

मूर्तिपूजक अथवा प्रत्येक यात्री इस प्रश्न का उत्तर प्रामाणिकता से और अपनी सदसद्विवेक बुद्धिके अनुसार दे, तो उसको उपरोक्त कथन की सत्यता अच्छी तरह मालूम हो सकती है।

मूर्तिपूजा के सबंध मे एक बात तो बडीही विचित्र है। यदि हम तीर्थंकरों की मूर्तियों का सूक्ष्म निरीक्षण करें तो हम को मालूम होगा कि वे सदा ध्यानावस्था में पाई जाती हैं। इससे मालूम होता है कि उनका चित्त बिलकुल अडोल है और उनकी दृष्टि नासिकाग्र लगी हुई है। इससे यह सूचित होता है कि वे न केवल पाप और पुण्य, किन्तु यों कहना चाहिये कि सारे ससार की ओर से उदासीन हैं। साराश यह है कि मूर्तियों में बाह्य व आतरिक शान्ति झलकती है।

मूर्तिपूजा, विधेय है या नहीं, इस बात को छोडकर हम को बडे खेद के साथ कहना पडता है कि मूर्तिपूजक पूजन के समय मूर्तियों के साथ बडा अन्याय करते हैं। वे गहरे ध्यान में मग्न हुई हुई मूर्तियों को घटाओं की घनघनाहट से नगाडों की बेढब ध्वनी से मत्रों के उटपटाग उच्चारण से जगाते हैं, सोना-चादी के आभूषणों के भार से लादते हैं तथा मूर्तिया देख सकगी इस आशा से उनको जबरन काच-या-स्फटिक के नेत्र लगाते हैं। इस प्रकार

भक्त उनपर अनेक उपाधियाँ लादकर उन्हें उनके उच्च स्थान से नीचे गिराते हैं—अधःपतन करते हैं, ससारी पामर मनुष्यों में उनकी गणना करते हैं और अपनी मनमानी कल्पना के अनुसार उनको अपने आधीन बनाते हैं।

यद्यपि ये लोग तीर्थंकरों को सिद्धशिला व्यापि मानते हैं तो भी वे उनको एक छोटी सी मूर्तिके रूप मे वस्तु रूप बना-लेते हैं। उनको निराकार मानते हुए भी उनका पाषाण या धातु की मूर्ति में रूपान्तर कर देते हैं व उनको त्यागी मान कर भी उन पर सब प्रकार का भोग चढाते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि तीर्थंकर नग्न रहा करते थे, परतु फिर भी वे उन्हें नाना प्रकार के वस्त्रों से लादते हैं। वे उनको अहिंसा धर्म के सम्माननीय प्रचारक मानकर भी पुष्प इत्यादि अनेक वस्तुएँ चढाकर असंख्य जीवों की हिंसा उनके निमित्त करते हैं। पुनर्जन्म से मुक्त मानकर भी पाषाण या धातु के जडरूप में उनकी प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। तीर्थंकरों को मृत्यु से मुक्त मानकर भी नाश होने वाले पाषाण धातु आदि पदार्थ का रूप देते हैं। इतनाही नहीं किन्तु उन्हें सर्व शक्तिमान मानकर भी उन्हें और उनके आभूषणादि को चोरों के भय से ताले में बद कर देते हैं। साराश यह है कि भ्रम, में पडे हुए और मिथ्यात्व में फँसे हुए मूर्तिपूजकों के कृती मे इसी प्रकार के अगणित विरोध पाये जाते हैं।

मूर्तिपूजकों के पक्ष की परीक्षा और खंडन ।

मूर्तिपूजकों का यह मत है कि तीर्थंकरों की पाषाण की मूर्तिया उनको तीर्थंकरों के सद्गुणों की याद दिलाती हैं और उनके अत करणों में उन सद्गुणों का अनुकरण करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न करती हैं। परन्तु उनके आचार व्यवहार पर इस बात का बहुत कम असर नजर आता है। प्रतिमाओं के बहुमूल्य और चमकीले आभूषण, मंदिरों की चकाचौंध कर देने वाली रोशनी, अनेक चित्ताकर्षक पदार्थ, मधुर और हृदयग्राही गान (जो प्रतिमाओं के सामने गाया जाता है), भड़कीले वस्त्र पहने हुए छोटे छोटे बालकों का सुदर नृत्य और उनके मधुर भजन तथा उनके पैरों के घुँघरुओं की सुरीली झनकार, प्रतिमाओं के सामने जलाये हुए धूप की उन्मत्त करने वाली सुगध, ये सब बातें भ्रमजाल में फसे हुए भक्तों को *मुक्ति प्राप्त करने के लिये न तो मोक्षमार्ग पर ले जाती हैं* और न उनके हृदय में जैसा कि वे समझते हैं तीर्थंकरों के सद्गुणों के अनुकरण करने की इच्छा उत्पन्न करती, हैं किन्तु उनको ससार के क्षणिक सुखों की भूलभुलइयों में फँसा देती हैं।

यदि सच पूछा जाय तो इन मूर्तियों और क्रियाकांडों की उत्पत्ति स्वार्थवश ही हुई है और इस उद्देश को लेकर ही ये लोग अपने अंध भक्तों के मन उस ओर झुकाते हैं। जब

कोई भक्त मंदिर में प्रवेश करता है तो वह वहांका द्रव्य देखते ही चकित हो जाता है और रोशनी की झगमगाहट से उसकी दृष्टि चकाचौंध हो जाती है। उस समय उसकी मनोवृत्तिया चक्कर में पड जाती हैं और उसे ऐसा मालूम होता है कि मानो वह कोई बडा स्वप्न देख रहा हो। अन्य पूजा करने वालों से प्रथम पूजा करने का अवसर पाने की धुन में व पूजन के व द्रव्यादि चढाने के आवेग से भरे हुए भक्त की उस समय जो दशा रहती है उस दशा में उससे यह आशा कदापि संभव नहीं हो सकती कि वह उस समय ठहर कर अपनी सदसद्विवेक बुद्धि से यह सोचे कि वह जो कुछ कार्य कर रहा है वह बुद्धिमानी का है या बेसमझी का है। उसे इस बात का भी ज्ञान नहीं होता कि इस प्रकार मूर्ति पूजन से केवल उसकी वासनाओं की तृप्ति होकर वह सत्य से वंचित हो जाता है। पूज्य तीर्थंकरों के उच्च सिद्धान्तों से अनभिज्ञ होनेसे वह ऐसे आडबरों में धन का नाश करता है और अपने जीवन के बहुमूल्य समय को अनुपयोगी पूजन विधियों में निरर्थक खोता है। साधुओं के दबाव और डर के कारण श्रावकों ने जरा भी चू न की और स्वार्थी साधुओं की बताई हुई नई पूजन विधियों को शांति पूर्वक स्वीकार कर लिया। यह शोचनीय अवस्था अब भी मौजूद है और जैनों के मूर्तिपूजक संप्रदाय में पिछले कई सौ वर्षों से चली आती है।

ये निरर्थक पूजन विधियां व क्रिया-आडबर आत्म-कल्याण के साधन होना तो दूर रहा किन्तु व्यर्थ का बोझ है, क्यों कि मनुष्य निसर्ग से आत्मोन्नतिशील प्राणी है। जब पूजन विधिया बढती चली गई और उनसे अकल्याण की सम्भावना होने लगी तब स्वाभाविकतया लोगों के हृदय में आत्मा को सतोष देने के लिये किसी अच्छे साधन के खोज करने की इच्छा पैदा हुई और वे जुलमी साधुओं के शासन से छुटकारा पाने के लिए उत्कठित हो उठे।

लोंकाशाह द्वारा मूर्तिपूजा का निषेध।

ऐसी अवस्था में परिवर्तन होना बिलकुल स्वाभाविक था। नीचे लिखी हुई विचित्र घटना से अहमदाबाद के लोंकाशाह नामके एक बडे व्यौपारी के चित्त को ऐसी ठेस लगी कि उसके जी में मूर्तिपूजा की निरर्थकता दिखाने की प्रशसनीय इच्छा उत्पन्न हो गई और वह मनुष्य जाति की रक्षा करने में तत्पर हुआ। वह घटना इस प्रकार है कि जब वह एक बार एक मदिर में गया तब वहा उसने किसी साधु को अपने ग्रथ भंडार की व्यवस्था लगाते हुए और उसकी जीर्ण शीर्ण अवस्था पर आँसा साल डालते हुए देखा। साधु ने लोंकाशाह से जीर्ण पोथियों की रक्षा करने में सहायता देने के लिये पूछा। लोंकाशाह बहुत सुन्दर अक्षर लिखते थे और वे बडे धर्मात्मा भी थे इसलिये उन्होंने पोथियों की नकल

करने का भार अपने ऊपर ले लिया और तुरंत ही काम शुरू कर दिया। जब उन्होंने यह देखा कि सूत्रों में दिये हुए सिद्धात बडे ही उच्च श्रेणी के हैं और उनमे न तो मूर्ति पूजा का विधान है और न जैन साधुओं को परिग्रह रखने और लौकिक सुख भोगने का तब उन्हें बडा भारी आश्चर्य हुआ। उन्हे मालूम हुआ कि ग्रथों में जो सिद्धान्त लिखे हैं वे उन सिद्धान्तों से बिलकुल भिन्न थे जिनका प्रतिपादन उस समय के साधु किया करते थे।

इस घटना से उनके चित्त में अचानक एक क्रांति पैदा हो गई और उनके विचार सर्वथा बदल गये। उन्होंने प्रत्येक ग्रथ की गुप्त रूप से दो नकलें उतार लीं जिनमें से एक नकल तो उन्होंने साधु को दे दी और दूसरी नकल को अपने पास रख लिया। इसके बाद उन्होंने सूत्रों का गहरा अध्ययन किया और महावीर के सिद्धान्तो को खूब समझा। यद्यपि उनका जन्म और पालन पोषण मूर्ति पूजक सम्प्रदाय में हुआ था, तथापि उन्होंने मूर्ति पूजा का तुरन्त ही त्याग दिया और जैन समाज को जोरों के साथ यह कहा कि जो साधु मूर्ति पूजा की आज्ञा देते हैं वे धूर्त हैं, क्यों कि सूत्रों में मूर्ति पूजा का विधान कहीं भी नहीं है। उनमें महान् आत्मिक बल था और इसीलिये वे अपने मत को साहस पूर्वक प्रकट करने मे जरा भी न घबराये। उन्होंने उस समय के साधुओं को

स्वार्थता का भडाफोड कर दिया और शास्त्रों में लिखे हुए असली जैन सिद्धान्तों का प्रचार शुरू कर दिया। शीघ्र ही कुछ मनुष्य उनके अनुयायी हो गये और उनकी सहायता से उन्होंने पवित्र और असली सिद्धान्तों का प्रचार करना शुरू कर दिया। इस प्रकार बहुत से उन्मार्गगामी मनुष्यों को सन्मार्ग पर लगा दिया। जब स्वार्थी साधुओं को अपनी अवस्था डावाडोल और शोचनीय हो जाने का तथा मान्यता नष्ट हो जाने का भय हुआ तब उन्होंने लोंकाशाह और उनके अनुयायियों का छल करना शुरू कर दिया। उन्होंने लोंकाशाह पर बुराइयों की वृष्टि करना और उनके अनुयायियों के चारित्र को कलंकित करना चाहा। अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए और एक बडी भारी संख्या के विरोधी समाज का सामना करते हुए लोंकाशाह और उनके अनुयायियो ने उसी जोर शोर के साथ अपना पवित्र उपदेश का काम जारी रक्खा। स्वार्थी साधुओं की मान्यता शीघ्र ही घटने लगी और लोगों के झुंड के झुंड शीघ्र ही लोंकाशाह की शरण में आने लगे। लोंकाशाह ने सम्यक्ज्ञान रूपी दीपक का प्रकाश किया और यह प्रकाश भारत वर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक शीघ्र ही फैल गया और सर्वत्र शांति का साम्राज्य छागया। सत्य के ज्वाजल्यमान प्रकाश में असत्य और धूर्तता का लोप होने लगा और चारसौ वर्ष के भीतर ही पांच लाख भूले हुए

मनुष्य ठीक रास्ते पर आगये अर्थात् वे जैन धर्म के पवित्र और असली सिद्धान्तों के अनुयायी बन गये ।

स्थानकवासी नाम क्यों धारण किया गया ।

जैन धर्म के इन सच्चे अनुयायियों का उपनाम मूर्ति पूजकों ने वैरभाव के कारण ढूंढिया रख दिया । अपने आपको मूर्ति पूजकों से पृथक रखने के लिये लोंकाशाह के अनुयायि, बल्कि यों कहना चाहिये कि महावीर के असली उपदेशों के सच्चे भक्त अपने आपको स्थानकवासी कहने लगे । द्वेष के कारण मूर्ति पूजक श्वेताम्बर, स्थानकवासियों को मूल संघ की एक शाखा बतलाते हैं और यों कहते हैं कि स्थानकवासियों की उत्पत्ति को केवल ४०० वर्ष हुए हैं ।

लोंकाशाह जैन धर्म के असली सिद्धान्तों के प्रचारक थे ।

ऊपर के पृष्ठों में यह बात अच्छी तरह सिद्ध कर दी गई है कि स्थानकवासी सम्प्रदाय जैसा कि मूर्ति पूजक कहते हैं, जैन धर्म की शाखा नहीं है, द्रव्योपार्जन करने वाले साधुओं की स्वार्थ परता के कारण ही प्राय: जैन समाज भलती दिशा पर और कुमार्ग पर चला गया । केवल एक दैवी घटना के कारण ही लोंकाशाह को असली सूत्रों के दर्शन हुए और इस

लिए उनको सत्य का पता लग गया और वे तत्कालीन असत्य विचारों और सिद्धान्तों का विरोध करने में समर्थ हुए। लोंकाशाह ने जैन धर्म के असली सिद्धान्तों का प्रकाशन किया और लोगों में उनका प्रचार किया। इसका फल यह हुआ कि लोक जैन धर्म के उन श्रेष्ठ और उदात्त सिद्धान्तों को देखकर चकित हो गये जो कितनी ही शताब्दियों से साधुओं की धूर्तता के कारण दबे छिपे पड़े थे।

जिसके निर्मल हृदय में स्वार्थता का अंश मात्र नहीं था और जिसके सद्विचार, उपदेश और आचार केवल सत्य प्रेम से ही प्रेरित थे ऐसे धर्मवीर लोंकाशाह के सरल, स्पष्ट और सुंदर उपदेश की ओर अत्याचार से घबराये हुए और सत्य के सहारे की खोज में लगे हुए जन समुदाय का लक्ष खिंच गया और सत्य का प्रकाश उनके हृदय पर अंकित हो गया। यदि सच पूछा जाय तो लोंकाशाह ने न तो कोई अपने नये सिद्धान्त स्थापित किये और न किसी दर्शन पद्धति के निर्माण का दावा किया। उन्होंने लोगों को जैन शास्त्रों में क्या लिखा है यह बतलाने में व उस समय के प्रचलित ऐहिक व स्वार्थ से भरे हुए सिद्धान्तों से बचने का मार्ग सिखलाने में ही अपना समाधान मान लिया। सद्गुरु लोंकाशाह के बतलाये हुए सरल व आत्मोन्नति करने वाले सिद्धान्तों का जन समुदाय पर बड़ा भारी असर हुआ। उन्होंने अपने अन्तःकरण

में इन सिद्धान्तों के ऊपर शांत होकर विचार किया और उन्हें दृढ विश्वास हो गया कि ये सिद्धान्त सच्चे, पवित्र और सर्वाङ्ग पूर्ण हैं और तत्कालीन नामधारी धर्मात्मा लोगों के प्रचलित सिद्धान्त मनमाने और संकीर्ण हैं। इस प्रकार विश्वास हो जाने पर परमात्मा से डरने वाले और बुद्धिमान मनुष्यों ने तुरन्त ही असली और प्राचीन धर्म का अंगीकार कर लिया परन्तु जो लोग पक्षपाती और कट्टर थे उन्हों ने पूजा के पाखंड को और अन्य क्रियाओं को, जिनकी आज्ञा जैन धर्म के असली प्रचारकों ने कभी न दी थी न छोड़ा।

उपरोक्त बातों के कारण स्थानकवासी संप्रदाय प्राचीन धर्म की शाखा है यह कदापि कहा नहीं जा सकता। इसकी जगह मूर्ति पूजक संप्रदाय पर ही मूल धर्म से पृथक् हो जाने का व महावीर के आदेशित सिद्धान्तों के विरुद्ध भिन्न संप्रदाय उत्पन्न करने का आरोप लगाना चाहिये।

किसी मत को किसी धर्म की शाखा उसी समय कह सकते हैं कि जब वह मत उस धर्म के असली प्रचारकों के सिद्धान्तों का खंडन करता हो। हमने ऊपर के पृष्ठों में यह निर्विवाद सिद्ध कर दिया है कि श्वेताम्बरों का मूर्ति पूजक सम्प्रदाय ही ऐसा है जो सिद्धान्तों में और व्यवहार में भी महावीर और अन्य तीर्थंकरों के सिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध है। इसलिये यह कहना युक्तियुक्त है कि यह सम्प्रदाय प्राचीन

धर्मकी शाखा मात्र है और उसके असली तत्वों से विमुख हो गया है। स्थानकवासी संप्रदाय ही तीर्थंकरों के असली उपदेशों को मानता चला आ रहा है और इस लिए यह नहीं कह सकते कि वह किसी प्रकार भी असली मूल की शाखा है।

ऐसी अवस्था में निर्पेक्ष पाठक मेरे साथ इस बात में अवश्य ही सहमत होंगे कि जैनों में यदि कोई संप्रदाय महावीर का असली और सच्चा अनुयायी होने का दावा कर सकता हो तो वह केवल स्थानकवासी संप्रदाय ही हैं।

स्थानकवासी जैन धर्म के असली और सच्चे अनुयायी हैं और श्वेताम्बर मूर्ति पूजक सम्प्रदाय मूल सघ की शाखा है इस बात को और भी पुष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि हम उन लक्षणों की जाच पडताल करें कि जिनमे हम महावीर के सच्चे अनुयायी वन सकते हैं और फिर उन सिद्धान्तों की कसौटी पर परीक्षा करें कि इन दोनों सम्प्रदायों में से कौनसा सम्प्रदाय ऐसा है जो वास्तव में असली जैन धर्मावलम्बी कहा जा सकता है।

मूर्तिपूजकों और स्थानकवासियों की तुलना।

श्वेताम्बर मूर्ति पूजक ४५ शास्त्रों को मानते हैं, परन्तु स्थानकवासी उनमें से केवल ३२ को ही मानते हैं। उनकी

इस मान्यता के लिये उनके पास प्रबल प्रमाण भी हैं परन्तु इस विषय पर इस जगह विषयान्तर के भय से अधिक विवेचन करना आवश्यक नहीं है।

श्वेताम्बर मूर्ति पूजक मूर्तिओं को पूजते हैं और कर्म के बन्धन से छुटकारा पाने के लिए यात्राएँ करते हैं, परन्तु स्थानकवासी ऐसा नहीं करते क्यों कि उनका विश्वास है कि ये यात्राएँ न केवल जैन धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं, किन्तु ये (यात्राएँ) अपने उद्देश को पूरा नहीं कर सकतीं। वे यह भी मानते हैं कि आत्म-संयम, सच्चरित्रता और आत्म-त्याग के द्वारा ही इच्छित उद्देश (मोक्ष-प्राप्ति) की पूर्ति हो सकती है।

इसके अतिरिक्त एक बात तो यह है कि मूर्ति पूजकों के साधु तीन वर्गों में विभाजित हैं और दूसरी बात यह है कि जब वे परिग्रह में फँसे रहते हैं तो उनका आचार जैन धर्म के सिद्धान्तों के अवश्य ही विरुद्ध होता है। स्थानक-वासी साधुओं के ऐसे विभाग नहीं हैं और वे निरन्तर धर्म शास्त्रों के अध्ययन में लगे रहते हैं या आत्मोन्नति के लिए क्रियाएँ करते रहते हैं। इस कारण उनको न तो इस बात के लिए समय और अवसर मिलता है और न उनकी यह इच्छा ही होती है कि वे लौकिक बातों पर ध्यान दें।

इसके विपरीत मूर्ति पूजक साधुओं में बहुत से ऐसे हैं जो अपने पास द्रव्य रखते हैं तथा और भी ऐसी चीजें रखते हैं जिनकी आज्ञा शास्त्रों में नहीं है। स्थानकवासी साधु अपने पास केवल वही पदार्थ रखते हैं जिनकी खास आज्ञा जैन सिद्धान्त में दी गई है।

इस प्रकार दोनों संप्रदायों के साधुओं मे इतनी भिन्नताएँ हैं कि उन सबका उल्लेख करने में कई पृष्ठ भर जाने की आशंका से यहा उनका स्पष्टीकरण न करते व हमारे सूज्ञ पाठकों का अधिक समय नष्ट न करते संक्षेप में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि यद्यपि दोनों संप्रदाय एक ही शास्त्रों को मानते हैं व एक ही तीर्थंकरों के अनुयायी होने का दावा रखते हैं तथापि इनके आचार विचारों में इतना भेद नजर आता है कि यदि कोई विदेशी इन्हों का अवलोकन करे तो उसका यही निश्चित मत होगा कि ये दोनों सप्रदाय बिलकुल ही भिन्न भिन्न धर्म के अनुयायी हैं और इन्हों के सिद्धान्तों में किसी प्रकार की समानता नहीं है।

मूर्ति पूजक सम्प्रदाय के साधुओं के विपरीत स्थानकवासी साधु आत्म सयम और आत्म त्याग के कडे नियमों का पालन अच्छी तरह करते हैं। वे ससार से कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं रखते जिसके कारण वे स्वार्थी बन सकें।

उनमें कोई ऐसा दोष नहीं है जिसके कारण वे सत्य का उपदेश न दे सकें। संसार को त्यागने में और लौकिक सुखों को ठुकराने में उनका एक मात्र यही उद्देश है कि वे उन उच्च सद्गुणों का पालन कर सकें कि जिनके कारण तीर्थंकरों का नाम अमर होगया है। साराश यह है कि ये महावीर के सच्चे भक्त होने की पात्रता रखते हैं इसलिए जैन धर्म के पवित्र और असली सिद्धान्तों का उपदेश देने की सबसे अधिक योग्यता इनमें ही पाई जाती है। इन सिद्धान्तों का प्रचुर प्रचार मनुष्य जाति के व्यवहार में करने का ही इनके जीवन का खास उद्देश होने से ये ही महावीर के सच्चे अनुयायी कहलाने के पात्र हैं।

उन लोगों को हम महावीर के सच्चे शिष्य नहीं कह सकते जो अपने आप को धर्मात्मा कहते हैं, केवल अपनी ही चिन्ता में लगे रहते हैं, संसार को त्याग कर भी संसार में फँसे रहते हैं और अपना ही मतलब गाठने में व लोगों को धोखा देने में जरा भी नहीं डरते।

सच्चे शिष्य बनने के लिए कौन सी बातों की आवश्यकता है।

सच्चे शिष्य बनने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम तीर्थंकरों की बाह्य उपचारों से पूजा करें जैसा कि मूर्ति पूजक किया करते हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है

कि हम महान् तीर्थंकरों के कहे हुए उत्कृष्ट आदेशों के अनुसार सदैव आचरण करें। हमको स्वार्थ की ओर ले जाने वाली इच्छाओं का व पाप की ओर झुकाने वाले विचारों का बहिष्कार कर देना चाहिये और परिग्रह को सर्वथा त्याग देना चाहिये। केवल इन्हीं बातों से हम सच्चे शिष्य-कहे जा सकते हैं। जैन धर्म की मान्यता है कि सदाचार ही परम धर्म है और वह प्रेम, पवित्रता, दया, आत्म त्याग इत्यादि लोकोत्तर सद्गुणों का विरोध करने वाली मानसिक और शारीरिक बातों को त्याग देने से प्राप्त होता है। जब तक मनुष्य विषय वासनाओं में फँसा रहता है और जब तक वह संसार से अपने आपको दूर नहीं रखता तब तक उसे शिष्य नहीं कह सकते।

तीर्थंकरों के उपदेशों का एक मात्र उद्देश यही है कि मनुष्य सद्गुण और पवित्रता सीखे और मन तथा कृती से प्रेम और दया में लिप्त हो जाय जिससे कि उसकी आत्मा संसार के बंधन से मुक्त हो सके। अपने मन में केवल यह समझ लेना कि तीर्थंकर सदा दया, पवित्रता और सदाचार की मूर्ति थे किसी काम का नहीं है जब तक कि हम इन सद्गुणों का अनुकरण करने की स्वयं चेष्टा न करें। केवल यह जान लेना कि तीर्थंकर सद्गुण, दया व पवित्रता की मूर्ति थे, किसी काम का नहीं है जहा तक कि हम भी वैसे ही गुण प्राप्त करने की चेष्टा न करें। वैसाही यह जान लेना भी पर्याप्त नहीं है कि तीर्थंकर

सपूर्ण क्षमा के सागर व संपूर्णता की मूर्ति थे, किन्तु उसके साथ यह भी आवश्यक है कि हम भी उनकी बतलाई हुई उपरोक्त बातों को अपने व्यवहार में लाने का भरसक प्रयत्न करें। साथ में यह भी आवश्यक है कि हम भी वैसे ही दयावान् और सर्वगुण सम्पन्न बनें और उन्होंने अपने जीवन में जिन दैवी आदेशों का अनुकरण किया था उनको हम भी अपनावें।

केवल स्थानकवासी साधु ही महावीर के सच्चे शिष्य हैं।

इस प्रकार स्थानकवासी साधुओं का जीवन, उन मोक्ष-गामी महात्माओं के उपदेश और आदेशों का एक छोटा सा किन्तु प्रत्यक्ष जीता जागता नमूना है।

स्थानकवासी साधु तीर्थंकरों के बतलाये हुए उत्कृष्ट जैन सिद्धान्तों के अनुगामी बनने की यथाशक्ति चेष्टा करते हैं और अपने आचरण को भी वैसा ही बनाते हैं। चूँकि जैन धर्म शरीर की सुन्दरता को अथवा सुख को कुछ महत्व नहीं देता लेकिन वह आत्मा को सुन्दर और उन्नत बनाना सिखलाता है, इसलिए स्थानकवासी साधु अपने शरीरकी सुन्दरता तथा सुखकी कुछ परवाह नहीं करते, किंतु वे अपना पवित्र और निष्कलंक आचरण रखने की चेष्टा करते हैं और लौकिक पदार्थों और मोह से अलिप्त रहते हैं। यदि महावीर के

उपदेश किये हुए सिद्धान्तो के अनुसार चलने में और तीर्थंकरों की पवित्रता का और सद्गुणों का अनुकरण करने में वे ऐसे आवेश में आजाय कि वे कुछ जैन सिद्धान्तो के अनुकरण करने की हद्द कर दें तो उनका यह दोष क्षमा करने योग्य है। परंतु सदाचार की कभी अतिशयोक्ति नहीं की जा सकती। जो लोग स्थानकवासी साधुओं को इस अतिशयोक्ति का दोषी ठहराते हैं वे एक सच्चे धर्म के उदार उद्देशों क ज्ञान से सपूर्ण वंचित हैं ऐसा समझना चाहिये। अपने चारित्र को सर्वथा निष्कलंक बनाना, अपने हृदय को बिलकुल पवित्र करना, सबके ऊपर दया और क्षमा का भाव रखना, ये प्रत्येक बडे धर्म के आदि सिद्धान्त हैं। जो लोग इन आदेशों के अनुसार आचरण करते हैं उनको दोषी ठहराना तथा उनका उपहास करना न्याय के सर्वथा विरुद्ध है और जो लोग ऐसा करते हैं वे अपने इर्षायुक्त व शून्य-हृदय का परिचय देते हैं।

यह बड खेद की बात है कि श्वेताम्बर मूर्ति पूजक, स्थानकवासी साधुओं की पवित्रता को देखकर ईर्षा करते हैं क्यों कि स्थानकवासी साधुओं के आचार व विचार की वे बराबरी नहीं कर सकते। इन कारणों से उनमें कभी मैत्री भाव नहीं रहा है। मूर्ति पूजकों ने स्थानकवासियों से सदा वैर भाव रक्खा और उनको सताया है। उन्हीं ने स्थानकवासियों

को फलक लगाये हैं और उनके तरह २ के नाम रख कर चिढाया है। उन्हों ने स्थानकवासियों के विषय में मनमानी बातें कही हैं, उनके साथ बहुत कठोर व्यवहार किया है और उनको ढूंढिया कहकर बदनाम किया है। उन्होंने ने स्थानकवासियों को बदनाम करने में कोई कसर न की। उन्होंने ईर्षा और द्वेष के कारण स्थानकवासी साधुओं का इस बात पर उपहास तक कर डाला है कि वे अहिंसा के उच्च और कल्याण कारी सिद्धान्त पर जो कि जैन धर्म का सार है, बडी सावधानी के साथ चलते हैं। अहिंसा जैन धर्म का आदि तत्व है और जैन शास्त्रों के प्रत्येक पृष्ट में उसकी झलक दिखाई देती है। अहिंसा का महान् और कल्याणकारी सिद्धान्त आर्यों के सभी धर्मों का प्रथम और मूल सिद्धान्त है। जो लोग इस सिद्धान्त पर चलते हैं उनकी हँसी उडाना और उनको बदनाम करना उत्तम और उत्कृष्ट बातों की जड पर कुठाराघात करना है। श्वेताम्बर मूर्ति पूजकों ने स्थानकवासियों का केवल यही दोष नहीं बताया किन्तु अपने आपकी और जैन शास्त्रों से विरोधी सिद्धान्तों की रक्षा करने के लिये उन्होंने स्थानकवासी साधुओं के पवित्र जीवन और निष्कलङ्क चारित्र की ऐसी बुरी व अन्याय पूर्ण आलोचना की है कि उससे केवल स्थानकवासियों ही के विषय में नहीं किन्तु समस्त जैन धर्म के विषय मे लोगों को भयंकर भ्रम हो सकता है। हम कई

कारणों से इस सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक लिखना नहीं चाहते। इस लिए हम पाठकों का ध्यान केवल उन पिछले पृष्ठों की ओर आकर्षित करते हैं जहा कि हमने स्थानकवासी और श्वेताम्बर मूर्ति पूजकों के आचार और चरित्र की तुलना की है। जिन पाठकों ने दोनों सम्प्रदायों के साधुओं के दर्शन स्वय किये हों, उनके नित्यप्रति के व्यहार को ध्यान पूर्वक देखा हो और उसकी जाँच की हो वे मेरे कथन की सत्यता को समझ सकते हैं।

मैं समझता हूँ कि मैंने इस छोटी सी पुस्तक में उन कठिनाइयों और सकटों का पर्याप्त वर्णन कर दिया है जिनका सामना स्थानकवासियों को मूर्ति पूजक सम्प्रदाय की ईर्षा और घृणा के कारण करना पडा है। इसके साथ ही साथ इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति कब व कैसे हुई यह भी बतला चुका हूँ। अब मेरे सूज्ञ पाठकों के लिये चार शब्द लिख कर इस विषय को समाप्त करता हूँ।

इस विषय का विवेचन मैंने बिना किसी प्रकार के पक्षपात के व सब बातों का विचार करके ही किया है। जिन प्रमाणों को मैंने सामने रक्खे हैं, सभव है कि उनमें से थोडे वादग्रस्त भी हों, किन्तु उनमे मेरी उन दलीलों की सत्यता मे जो कि जैन, बौद्ध व हिन्दू शास्त्रों के प्रमाणों से सिद्ध की गई हैं, जरा भी बाधा नहीं आ सकती। इस

विषय के सारे विवेचन में जो जो बातें प्रकाश डाल सकती हैं उन सब बातों का व घटनाओं का मैंने पूरा विचार किया है और तदनतर ही मैंने अपना मत कायम किया है। मेरी दलीलों में संभव है कि कोई ऐसी भी हों जो कि समाधानकारक मालूम न हों किन्तु मुझे इतना तो विश्वास है कि वे मेरे सूज्ञ पाठकों को उन पर विचार करने को तो अवश्य ही बाध्य करेंगी। यदि ये वादग्रस्त विषय हम थोडे समय के लिये अलग भी रख दें तो भी मेरे इस मुख्य विषय की यह सत्यता सिद्ध करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आती कि थानकवासी ही महावीर के असली व सच्चे अनुयायी हैं व श्वेताम्बर मूर्ति पूजक व दिगम्बर य दोनों संप्रदाय नकली हैं।

इस कारण मेरे सूज्ञ आलोचकों से मेरा अनुग्रह है कि वे इस पुस्तक को पक्षपात भरे-हृदय से न पढें किन्तु मेरे मत को पुष्ट करने के लिये जो जो प्रमाण मैंने दिये हैं उनकी छानबीन करके उन्हें न्याय की तराजू में तोलें व फिर इस विषय में अपना मत कायम करें।

अन्वेषक.